No - 057542 Lo - 43.14

श्रमण

अगस्त

१९६६

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैनाश्रम

हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

प्रस्तुत अंक में—

१. मोह का ताला और ज्ञान की कुंजी—श्री मोतीलाल सुराना १

२. श्वेताम्बर जैनों की पूजा-विधियों का इतिहास
—श्री कस्तूरमल बाँठिया ४

३. न्यायोचित विचारों का अभिनंदन
—पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' १६

४. पउमचरियं : संक्षिप्त कथावस्तु—डा० के० रिषभचन्द्र २२

५. महर्षि अरविन्द : जैनदर्शन की दृष्टि में—श्री लक्ष्मीचन्द जैन २८

६. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीसंघ—मुनि श्री पुण्यविजयजी ३२

७. जैन जगत्— ३८

वार्षिक
पाँच रुपये

एक प्रति
पचास पैसे

श्रमण

जैनविद्या का मासिक

वर्ष १७	अगस्त १९६६	अंक १०

मोह का ताला और ज्ञान की कुंजी

इलाकुंवर तो चुप रहा पर उसके साथी ने सब बातें बता दीं। माँ की ममता ने अपने पुत्र को घर ले चलने के लिये इलाकुंवर की बात स्वीकार कर ली। कुल की मर्यादा तथा कठोर तपस्या के बाद पुत्र प्राप्ति की बात कहने का इलाकुंवर पर कुछ असर न हुआ। उसे तो अभी भी सामने केवल उस नट की लड़की नाचती-फुदकती दिखाई दे रही थी।

घर आकर माँ ने पुनः बड़े-बड़े सेठों की सुन्दर लड़कियों के नाम इलाकुंवर को गिनाये तथा उनमें से किसी एक के साथ विवाह रचाने की बात कही पर इलाकुंवर तो नट के डेरे-तम्बू उठने की राह देख रहा था। वह और कोई बात सुनना न चाहता था। वह तो नट की रवानगी के दिन माँ से विदा होकर उस नट-समाज के साथ-साथ एक गाँव से दूसरे गाँव जाना, नट-विद्या में निपुण होना, और किसी भूपति से पुरस्कृत होकर "नट-बाला" से विवाह करना चाहता था। माँ की ममता को रोती-बिलखती छोड़कर नट-समाज के साथ इलाकुंवर आखिर में रवाना हो ही गया।

भूख, प्यास और सरदी, गरमी की परवाह किये बिना इलाकुंवर ने नट-विद्या सीखने में मन लगाया और कालान्तर में वह ऐसा निपुण हो

गया कि उसकी कला से मुग्ध होकर बाजार में राह चलता बड़ा से बड़ा रईस आदमी भी रुक जाता ।

एक समय इलाकुंवर ने अपनी विद्या का चमत्कार राजा को दिखाने के लिये राजमहल के प्रांगण में दो बड़े बाँस गाड़े तथा उनमें रस्सी बाँध कर उसपर अपनी कलाबाजी दिखाने लगा । "नटबाला" ढोलकी बजा रही थी तथा बूढ़ा नट इलाकुंवर के द्वारा दिखाये जा रहे नट-कौशल की बारीकियों का वर्णन कर राजा-रानी तथा जनता का ध्यान आकर्षित कर रहा था। जनता भी आपस में इलाकुंवर की प्रशंसा कर रही थी। इलाकुंवर ने एक-एक करके नटविद्या के पाँच चमत्कार दिखाये । फिर इलाकुंवर बांस से नीचे उतरा और राजा के पास जाकर प्रणाम किया । राजा कुछ इनाम देगा यह सोच कर वह राजा के सम्मुख खड़ा रहा पर राजा तो नटकन्या की ओर दृष्टि गड़ाये हुए था ।

राजा ने कहा—मैंने पूरा खेल देखा ही नहीं, कल पुनः यह खेल यहीं पर दिखाना । तुम्हें जरूर इनाम मिलेगा । इधर रानी भी इलाकुंवर पर मोहित हो गई थी । रानी भी यही चाहती थी कि इलाकुंवर के सभी खेल राजप्रासाद की चार-दीवारी में प्रतिदिन होते रहें । पर राजा कुछ और ही सोच रहा था । वह चाहता था कि किसी तरह इलाकुंवर खेल दिखाते-दिखाते झोका खाकर नीचे गिर जाय और अंतिम सांस लेले ताकि "नटबाला" पर अपना अधिकार जमाने में कोई रुकावट न रहे ।

दूसरे दिन पुनः उसी प्रांगण में खेल प्रारम्भ हुआ । पांचवीं नटलीला दिखाते समय बांस को झटका देने का काम राजा ने एक विश्वस्त नौकर को सौंपा ।

इलाकुंवर तीन चमत्कार दिखा चुका था। चौथा चमत्कार दिखाने के लिये जब वह ऊँचे बांस के आखिरी सिरे पर पहुँचा तो उसने देखा कि पास की एक हवेली में सेठ की पुत्रवधू एक तेजस्वी संत को मिष्ठान्न खिला रही है । सौन्दर्य की साक्षात् देवी को वह एक-टक देखता रहा । पर यह संत तो उसकी ओर देखते ही नहीं, मुँह नीचा किये आहार ले रहे हैं । इलाकुंवर "नटबाला" और सेठ की

"पुत्रवधू" के रूप-सौन्दर्य की तुलना करने लगा। उसे कुमारी के आगे नटबाला कुतिया-सी दिखाई दी।

इलाकुंवर फिर से सोचने लगा – मैंने "नटबाला" के लिए माँ, बाप, कुल की मर्यादा, आदि छोड़ी पर आज मुझे "कुमारी" पसंद आ रही है। नटबाला की ओर देखने का भी जी नहीं चाहता। यदि ये महात्मा इस कुमारी की ओर नहीं देख रहे हैं तो निश्चित ही इन्हें कुमारी के मुकाबले में कोई अधिक सौन्दर्यमयी मूर्ति की जानकारी होगी।

इस विचारधारा में तल्लीन इलाकुंवर का संतुलन कुछ बिगड़ ही रहा था कि वह संभला। उसने अपना चौथा चमत्कार दिखाने के पूर्व पुनः कुमारी की ओर देखना चाहा पर वह अब तक तो कमरे में जा चुकी थी। इलाकुंवर ने अपनी दृष्टि हवेली के बाहर डाली। देखा, वे ही महात्मा मन्थर-गति से राजमार्ग पर जा रहे हैं। इनको किस रूप की रानी की जानकारी है, इलाकुंवर की यह विचारधारा और तीव्र होती गई। इस चिन्तन में अज्ञानरूपी अंधकार का पर्दा हटा। ज्ञान की किरण फूटी। इलाकुंवर के ध्यान में आया कि नश्वर शरीर का मोह सच्चा नहीं है। सबसे अधिक सुन्दर "आत्मा" है और साधना के द्वारा ही उसका परम कल्याण हो सकता है। इलाकुंवर को बांस में बँधी रस्सी पर संतुलन संभालते-संभालते केवल-ज्ञान हो गया।

मोतीलाल सुराना

●

श्वेताम्बर जैनों की पूजा-विधियों का इतिहास

श्री कस्तूरमल बांठिया

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही जैन सम्प्रदायों के शास्त्र यह कहते हैं कि मध्य के बाईस तीर्थंकरों का शासन जहाँ सब तरह से समान होता है, वहाँ पहले और अंतिम तीर्थंकर के शासन याने उनके मुनि और उपासक सर्वथा भिन्न प्रकृति के होते हैं। श्वेताम्बर शास्त्र पहले तीर्थंकर के समय के लोगों को ऋजुजड़ और अंतिम तीर्थंकर के समय के लोगों को वक्रजड़ कहते हैं तो दिगंबर शास्त्र इन दोनों को ही चलचित्त, विस्मरणशील और मूढ़मना कहते हैं। श्वेताम्बर आचार्य वक्रजड़ की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"यस्माद्धेतोः वक्राश्च वक्रप्रकृतित्वाज्जडाश्च निजानेककुविकल्पैः विक्षितार्थावगमाक्षमत्वाद्वक्रजडाः" अर्थात् जिसका हेतु वक्र और वक्रप्रकृति होने से जड़, अपने अनेक कुविकल्प विवक्षितार्थ करने में जो क्षमतावाला हो वह वक्रजड़ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर के शासन के लोग ऐसे होते हैं जिनके विषय में याकिनीमहत्तरासूनु श्री हरिभद्रसूरि ने 'योगबिन्दु' में कहा है कि

> आग्रहीवत् निनीषति युक्तिर्यत्र तत्र मतिरस्य निविष्ठा।
> पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेषन ॥

अर्थात् आग्रही के समान एक वह होता है जो खींचखांचकर युक्ति वहीं लाता रहता है जहाँ उसकी मति ठहरी हुई है। परन्तु जो पक्षपातरहित होता है, उसकी मति सदा वहीं ठहरती है जहाँ तक युक्ति पहुँचती है। याने पहले की युक्ति मति-अनुगामी होती है जब कि दूसरे की याने पक्षपातरहित की मति युक्ति-अनुगामी होती है।

ऐसे मति-अनुगामी युग में धर्म का रूप मूल से बहुत भटक जाता है जैसा कि जैनों में मूर्तिपूजा आदि विविध धर्मकृत्यों के विषय में महावीर निर्वाण के इन २५०० वर्षों में हुआ है और वह भी यहाँ तक कि पिछले कुछ वर्षों से तो ऐसी शिकायत रूढ़िग्रस्त लोग भी कर रहे हैं। और बातें जाने दीजिए, मूर्तिपूजा का विषय ही लीजिए जो पिछले ५०० वर्षों से जैनों में हीं नहीं, बलिक

संसार के सभी धर्मों में और भारतवर्ष के हिन्दूधर्म में भारी विवाद का विषय हो रहा है। हम जैनों की इस विवाद ने भारी हानि की है। फिर भी जैनों में मूर्तिपूजा के विकास और विकार का इतिहास खोजने की ओर किसी का ध्यान ही आकर्षित नहीं हुआ। न तो विरोधियों ने और न मूर्तिपूजा के हिमायतियों ने तटस्थता से यह जानने की कोशिश की कि यदि विरोधी मान्यता में जरा भी सचाई नहीं होती तो विरोध जहाँ का तहाँ समाप्त हो जाता और नहीं पनपता। परन्तु वह पनपा ही नहीं है बल्कि संसार में मूर्तिपूजा जितना ही फला और फूला भी है और समय के साथ मूर्तिपूजा भी नए-नए रूप धारण करती रही ह।

परन्तु यह भी एक अकाट्य सत्य है कि 'मूर्तिपूजक होना' मानव की स्वाभाविक प्रकृति है। इने-गिने अपवादों को छोड़कर अधिकतम मनुष्य उसका सर्वथा त्याग नहीं कर पाते हैं और एक न एक रूप में मूर्तिपूजा की ओर झुक ही गए हैं। वैसे उदाहरण देने के एवज यहाँ अंग्रेज मनीषी श्री टामस कारलाइल का मत ही उद्धृत करना समीचीन होगा जो इस विषय में अपने आकरग्रंथ "हीरोज एण्ड हीरोवर्शिप" में स्पष्ट कहते हैं—

"In all times and in all places the Hero has been worshipped. It will ever be so. We all love great men. Does not every true man feel that he is himself made higher by doing reverence to what is really above him ? No nobler or more blessed feeling dwells in man's heart......Hero-worship exists, has existed, and will forever exist universally among mankind."

अर्थात् सब काल में और सब स्थानों में वीरों की पूजा हुई है। ऐसा सदा होता रहेगा। महामानवों को हम सब प्यार करते हैं। क्या कोई भी सच्चा मनुष्य ऐसा अनुभव नहीं करता कि उससे ऊँचा जो भी कोई हो उसका सम्मान करते हुए वह स्वयं को ऊँचा उठा रहा है ? इससे उदात्त अथवा अधिक सुखद भावना मानव हृदय में वास करती ही नहीं है।···वीर-पूजा है, रही है और सदाकाल मानव समाज में सर्वत्र रहनेवाली है।

ऐसी स्वाभाविक मानवी प्रकृति ने सुदूर प्रागैतिहासिक काल में जब कि भगवान् ऋषभदेव इस धराधाम पर भ्रमण करते हुए मानव मात्र को जीवन-

मरण से सर्वथा मुक्ति पाने का मार्ग बता रहे थे, पहले उनके चित्र और फिर उनकी पाषाण एवं धातु की मूर्ति का इसलिए निर्माण किया गया कि उनकी अनुपस्थिति में इनके द्वारा उनके उपदेश एवं उनकी परम उपकारकता का स्मरण और तदनुसार आचरण की प्रवृत्ति होती रहे। भगवान् ऋषभदेव हम मानवों जैसे ही मानव थे, परन्तु कठिन साधना द्वारा परम पद को प्राप्त हुए, इसलिए उनका चित्र एवं मूर्ति मानवाकार ही बनी। लाखों करोड़ों वर्ष बीत गए, उस मूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न किसी और रूप में ही उनकी मूर्ति बनी है हालांकि हिन्दू देवताओं और अवतारों की मूर्तियाँ विविधरूपा बनती हैं। मनुष्य के प्रमुख शत्रु – काम-क्रोध-मद-लोभ – पर एकदम ही विजय पाई थी, इसलिए उनसा वीर भी कोई नहीं था। अतः वे मानव मात्र के सम्माननीय और पूजनीय आदर्श वीरोत्तम भी थे। इस प्रकार आदर्श वीर भगवान् ऋषभदेव की छबि और मूर्ति बनने लगी और उसका दर्शन-नमन व स्तवन किया जाने लगा। दर्शन-नमन-स्तवन के योग्य आदर्श मानेजानेवाले पुरुषों के चित्र एवं मूर्ति बनाने की प्रवृत्ति तो संसार में आज भी अधिकतम है। यही क्यों, तथाकथित मूर्तिविरोधी ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि एवं जैनों के स्थानकवासी और तेरापंथी संप्रदायों में भी अधिकाधिक प्रचार पा रही है, क्योंकि मानव-प्रकृति न तो बदली है और न छूटी है।

भक्तजनों की भावना में से ही कालान्तर में ऐसे आराध्य के चित्र और मूर्ति की पूजा-अर्चना प्रचलित हुई याने उन पर फूल चढ़ाए जाने लगे, उनके सामने सुगंधी धूप खेया जाने लगा जैसा कि भारतवर्ष में आज गांधीजी जैसे संसारी जनों की समाधि और मूर्ति पर अपढ़-गंवार ही नहीं, बल्कि बुद्धि-शिरोमणि तक भी पुष्पादि चढ़ाते हैं। इस प्रकार की द्रव्यपूजा का प्रचार गृहस्थों द्वारा ही हुआ और आज भी द्रव्यपूजा प्रमुखतया गृहस्थ ही करते हैं और मूर्ति की भावपूजा याने दर्शन-स्तवन द्वारा सर्वत्यागी मुनियों से इस प्रथा को समर्थन मिलता रहता है।

जिन वैदिक आर्यों का नित्यनैमित्तिक धर्म अग्निहोत्र ही था, उनमें भी आज अनेक रूपों में मूर्तिपूजा का प्रचार है और यह लोकमान्य तिलक जैसों तक ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि वैदिक आर्यों ने जैनों से मूर्तिपूजा का बोधपाठ सीखा है। इस विषय में अधिक लिखना यहाँ आवश्यक नहीं है। हम पाठकों को मुनिश्री कल्याणविजयजी, 'वीर-निर्वाण संवत् और

जैन काल-गणना' जैसे परम ऐतिहासिक महानिबन्ध के लेखक, के सद्य प्रकाशित ग्रंथ "श्री जिनपूजाविधिसंग्रह" के मननपूर्वक पढ़ने की सिफारिश करते हैं और उसकी महत्व की बातों का सार हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

मुनिश्री ने इस विषय का विचार करने के लिए भगवान् महावीर के निर्वाण से आज तक के काल को तीन हिस्सों में विभाजित किया है : यथा—

(१) पूर्वकाल याने वीर-निर्वाण सं० १००० (वि० सं० ५१०) तक का समय।

(२) मध्यकाल याने वीर-निर्वाण सं० २००० (वि० सं० १५३०) तक का समय।

(३) अर्वाचीनकाल याने वीर-निर्वाण सं० २००० (वि० सं० १५३०) के बाद से अब तक का समय।

पूर्वकाल याने सौत्र-पूजाविधि निरूपण काल :

जैनों के मूर्तिपूजक पक्ष का यह मानना है कि मूर्तिपूजा का प्रचलन भगवान् ऋषभदेव के काल में हुआ और तब से संसार में मूर्तिपूजा हो रही है। उसका विरोध पूर्व काल में नहीं होने का कारण मुनिश्री कल्याणविजयजी की सम्मति में यह है कि "पहले गुफा-मंदिर ही सामान्यतया बनते थे। गृहस्थ द्वारा पूजा में होनेवाले सामान्य आरम्भ-समारम्भ का कोई इस कारण विरोध नहीं करता था कि उस काल की पूजाविधि एकदम सादी और निराडंबरी थी। मंदिर बनते, जिनप्रतिमाएं भी बनतीं, पर सब एकदम सरलता से और अल्पव्यय में। किसी गुफा को तोड़फोड़ कर बैठने लायक स्थान बना लिया जाता और पहाड़ में से ही मूर्ति खोद निकाली जाती। इस तरह मूर्ति और मंदिर दोनों ही तैयार हो जाते। गुफा श्रमणों के लिए उपाश्रय का काम देती और मूर्ति उनके लिए वन्दनीय देव बन जाती। तीर्थंकरों के स्मारक के समान ऐसे मंदिर कितने सुखसाध्य और समाधिजनक होते थे? कोई भाविक धर्मी गृहस्थ आ जाता तो पुष्पमुष्ठि चढ़ा जाता अथवा धूपबत्ती सुलगा कर धूप कर जाता। कदापि उस देव का श्रद्धालु वहाँ न भी जाता तो चिन्ता नहीं थी। यही बात जमीन पर बने हुए जिन-प्रासादों के सम्बन्ध में भी थी। किसी धनसम्पन्न की इच्छा हुई और किसी उपवन में, नदी-तट पर अथवा पर्वत-शिखर पर सुन्दर जैन चैत्य बना दिया, सुलाक्षणिक जिनप्रतिमा बनवाकर

परमेष्ठि-नमस्कारपूर्वक उसमें प्रतिष्ठित करवा दी। बस प्रतिष्ठा हो गई, न नित्य-स्नान-विलेपन की चिन्ता थी, न पूजाकारक वेतनभोगी पूजक की आवश्यकता थी (पृ० ७८)।

मुनिश्री की उपरोक्त बात को रूढ़िग्रस्त कोरी कल्पना कहें, परन्तु वे इससे इन्कार कर ही नहीं सकते हैं कि 'अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव और उनके गणधरों तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओं ने तीन स्तूप और चक्रवर्ती भरत ने "सिंहनिषद्या" नामक जिनचैत्य बनवाकर उसमें चौबीस तीर्थंकरों की वर्ण तथा मनोपेत प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवा कर, चैत्य के चारों द्वारों पर लोहमय यांत्रिक द्वारपाल स्थापित किए थे और पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यों के लिए शिखर पर पहुँचना अशक्य कर दिया था। मूर्ति का नित्यस्नान और विलेपन तब यदि आवश्यक होता तो शिखर पर पहुँचने की हर प्रकार की सुविधा की जानी चाहिए थी। ऐसा नहीं करना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि नित्यस्नान-विलेपन आदि सब अर्वाचीन कल्पनाएँ हैं। फिर चक्रवर्ती भरत ने नित्य पूजा-प्रक्षालनादि के लिए न कोई ग्रामग्रास ही दिए थे और न कोई पूजक – पुजारी नियुक्त किए थे। यदि ऐसा हुआ होता तो सूत्रकार इसका उल्लेख अवश्य ही कर देते। अष्टापद पर्वत इस प्रकार दुर्गम बन जाने के कारण देव, विद्याधर, विद्याचारण लब्धिधारी मुनि और जंघाचारण मुनि के सिवा अन्य कोई भी अष्टापद पर दर्शनार्थ नहीं जा सकता था और इसी कारण भगवान् महावीर ने अपनी धर्मोपदेश सभा में यह सूचना की थी कि "जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर पहुँचता है, वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।" भगवान् की इस सूचना के अनुसार गणधर इन्द्रभूति गौतम अष्टापद पर चढ़ने में सफल हुए और उसी भव से मोक्ष भी गए, ऐसा भी स्पष्ट कथन जैनशास्त्रों का है।

भरत के बाद होनेवाले दूसरे चक्रवर्ती सगर के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत के स्तूप एवं भरत चक्रवर्ती के बनाए जिनचैत्यों की रक्षार्थ उनके चारों ओर गहरी खाई खुदवा कर उसे गंगा के जलप्रवाह से भरवा कर सामान्य मानव के लिए फिर से दुरारोह कर दिया। नित्यस्नान-विलेपन आदि की कोई व्यवस्था नहीं की क्योंकि ऐसी व्यवस्था करने का तब भी कोई कारण नहीं था। कोई देव, विद्याधर अथवा आकाशचारी सिद्धपुरुष वहाँ जाता और

इच्छा होती तो स्थापनाजिन की भक्ति कर लेता, दर्शन कर लेता परन्तु यह नियम भी तब प्रचार में नहीं आया था।

मुनि कल्याणविजयजी पूछते हैं कि "अपने जैनशास्त्रों के लेखानुसार नन्दीश्वर, रुचक, कुण्डल आदि द्वीपों में शाश्वत चैत्य और जिनप्रतिमाओं का अस्तित्व माना हुआ है। अष्टाह्निक पर्वों के दिनों में अथवा जिनकल्याणकों के प्रसंगों में देव, असुर, विद्याधर आदि वहाँ जाकर उत्सव मनाते हैं। परन्तु सदा काल वहाँ पूजा कौन करता है इसका खुलासा शास्त्र में क्यों नहीं मिलता? देवविमानों और भवनपतियों के भवन में जिनचैत्य और जिनबिम्ब होना लिखा है। उस स्थान का स्वामी नया उत्पन्न होता है तब वहाँ के चैत्य में जाता है और जिनप्रतिमाओं की पूजा करता है। परन्तु शेष काल में वहां के चैत्यस्थित 'शाश्वत' प्रतिमाओं की पूजा कौन करता है, इसका खुलासा भी जैनशास्त्र में क्यों नहीं मिलता? इससे हमें समझना चाहिए कि हमारी प्राचीन पूजा-पद्धति आज की पद्धति-सी नहीं थी। वह सच्ची और स्वाभाविक थी जब कि आज की पद्धति में कृत्रिमता के बन्धन हैं। भावना के स्थान पर कर्तव्य की कड़ियाँ आज जोड़ दी गई हैं। इससे पूजक की आत्मिक भावना का विकास नहीं होता। पूज्य की पूजा जैसे इस पवित्र कार्य से कर्ता को जैसा लाभ मिलना चाहिए, नहीं मिलता। क्योंकि भावनाओं को विमुक्त पक्षी की तरह उड़ने का अवकाश नहीं मिलता (पृ० ७९)।"

रायपसेणइयसूत्र का सर्वोपचारी पूजा का विधान :

रायपसेणइयसूत्र का सूर्याभदेव और जीवाभिगमसूत्र का भवनपति विजयदेव उत्पन्न होने पर अपने विमान और भवन में स्थित शाश्वत जिनचैत्य और जिनबिम्ब की पूजा जिस प्रकार करते हैं उसका वर्णन क्रमशः रायपसेणइयसूत्र के सूत्र १३९ और जीवाभिगमसूत्र के सूत्र ६० में दिया गया है। वहां यद्यपि पूजा के चौदह प्रकार ही दिए हैं, फिर भी मध्यकाल में यह चौदह से बढ़कर सत्रह भेद हो गए और उन्हें रायपसेणइयसूत्रानुसार ही कहा जाता है। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि इस सत्रहभेदी पूजाविधि का प्रचार मध्यकाल में भी अंचलगच्छ द्वारा तब प्रचारपाई हुई 'अष्टोपचारीपूजा' के प्रतिषेध के कारण हुआ। उनका कहना था कि पंचोपचारी, अष्टोपचारी और सर्वोपचारी जो पूजाएँ प्रचलित थीं, कोई भी सूत्रोक्त नहीं होने से मान्य नहीं होना चाहिए। उक्त अंचलगच्छ के मेघराजमुनि ने सत्रहभेदीपूजा भाषापद्यों में सबसे पहले

बनाई। उसकी नकल पर फिर सकलचन्द्र ने भी बनाई जिसका प्रचार तपागच्छी मूर्तिपूजकों में अब तक है। इन सूत्रों में पूजा के उपकरण और उपादान जो दिए हैं उनमें से कई आज प्रयुक्त नहीं होते तो कई जैसे बाला-कूँची, अंगलूछणा, आरती, दीपक, मंगलदीपक नए जुड़ गए हैं।

जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में देवों द्वारा भगवान् ऋषभदेव के किए गए जन्माभिषेक का वर्णन है और इसी के अनुकरण पर मध्यकाल में स्नात्रपूजा का प्रचलन हुआ जो आज-कल मन्दिरों में नित्य ही की जाती है।

गृहस्थ द्वारा जिन प्रतिमापूजन का उल्लेख मात्र 'ज्ञाताधर्मकथासूत्र' में ही हुआ है। राजकुमारी द्रौपदी अपने स्वयंवर-मण्डप में आने के पूर्व जिनमन्दिर में जाती है और वहाँ सूर्याभदेव की तरह जिनप्रतिमा का पूजन करती है। इस प्रकार अवसर विशेष पर किया जाने वाला पूजन ही सर्वोपचारी पूजन होता था और यह देवों और मनुष्यों दोनों द्वारा विशेष अवसरों पर किया जाता था।

मुनिश्री कल्याणविजयजी कहते हैं कि "जैन उपदेशकों ने गृहधर्मियों की भावनाओं का पोषण करने के लिए उत्सवों तथा पर्वों के प्रसंगों को अनुलक्षित करके स्नानोत्सव आदि का उपदेश दिया और इन स्नानोत्सवों में से 'सर्वोप-चारीपूजा' का जन्म हुआ। यह 'स्नानमह' आज-कल का नहीं, पर २५००-२७०० वर्षों पहले का है।" बृहत्कल्प, निशीथचूर्णि, व्यवहारभाष्य आदि से उद्धरण भी इसके समर्थन में उन्होंने दिए हैं। इन उद्धरणों से वे यह भी सिद्ध करते हैं कि सूत्रों में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त "समवसरण" शब्द तीर्थंकरों की देशना — धर्मसभा के अर्थ में नहीं, पर 'स्नानमह', 'अणुयानमह', 'पडिमातिमहिमा' आदि प्रसंगों पर होनेवाले "जैन श्रमण सम्मेलन" के अर्थ में हुआ है। मुनिश्री का कहना है कि प्राचीन काल में वर्ष में अमुक नियत दिनों में होनेवाले तीर्थं-करों की मूर्तियों के स्नानमहोत्सव, प्रभावक मूर्तियों के रथयात्रा आदि के उत्सवों पर साधुओं के सम्मेलन भी हुआ करते थे जहाँ कि लाखों गृहस्थ उपस्थित होते थे। यद्यपि ऐसे उत्सवों में साधु-साध्वियों का जाना लगभग वर्जित था, फिर भी श्रमण-शासन की मर्यादाओं को व्यवस्थित करने के लिए ऐसे अवसर विशेष उपयुक्त होते थे। इसलिए इन प्रसंगों पर साधु-साध्वियाँ भी अधिक संख्या में एकत्र होती थीं और वे अपने आचार-विचार परिष्कृत किया करते थे।

श्रमण-शासन के व्यवस्थापन में समवसरण का पूर्वकाल में भारी महत्व था और वैशाख महीने में होनेवाला समवसरण 'काल-समवसरण', तो कहीं 'प्रथम समवसरण' इसलिए कहा जाता था कि उसमें प्रत्येक कुल और गण के प्रतिनिधि जाते थे और आगामी चतुर्मास के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करके जुदा पड़ जाते थे। समवसरण प्रमुखतया मुनियों के ही होते थे परन्तु इनका लाभ उठाने को लोग उन अवसरों पर 'स्नानमह', 'अणुयानमह' आदि भी आयोजित कर लेते थे। इन महोत्सवों में से 'सर्वोपचारी पूजा' का यद्यपि जन्म हुआ, परन्तु यह तब भी पर्वादि प्रसंगों पर ही हुआ करती थी।

इस काल का ही वाचक उमास्वाति का 'प्रशमरति प्रकरण' है जिसमें यह गाथा प्राप्त है—

चैत्यायतन-प्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः ॥३०५॥

अर्थात् चैत्यायतनों को बनवाकर उनमें जिन प्रतिमा स्थापन करके स्वशक्त्यनुसार उनकी प्रयत्नपूर्वक गन्ध-माल्य-अधिवास-धूप-दीप आदि से पूजा करना चाहिए।

इससे ऐसा लगता है कि वाचक उमास्वाति-काल में याने विक्रमी दूसरी से चौथी शती में अन्य प्रकार की पूजा का प्रचार होने लग गया था और वह मध्यमकाल में पर्याप्त विकसित हुआ और इस विकास में याकिनीसूनु हरिभद्र का सबसे अधिक प्रयत्न रहा था जैसा कि अब हम देखेंगे।

मध्यम-काल याने वीर निर्वाण १००० से २००० तक :

इस काल के शास्त्रों में अनेक प्रकार की पूजाओं का निरूपण हुआ है जो इस प्रकार है—

(१) अधिक सामग्री के अभाव में केवल 'अक्षतों' से 'स्वस्तिक' करना।

(२) स्वस्तिक आदि किसी भी एक प्रकार की पूजा के साथ "चैत्यवन्दन" "स्तवन" करना। यह 'द्रव्य' और 'भाव' भेद से दो प्रकार की पूजाएँ मानी गई हैं।

(३) "पुष्प, नैवेद्य और स्तवना" से पूजन त्रिविध पूजा का पहला प्रकार है।

(४) विघ्नोपनाशिनी, अभ्युदयप्रसाधिनी, और निर्वाणदायिनी यह त्रिविध-पूजा का दूसरा प्रकार है ।

(५) समंतभद्र, सर्वमंगला और सर्वसिद्धिफला यह त्रिविध-पूजा का तीसरा प्रकार है ।

(६) पुष्प, अक्षत और स्तुति से पूजन त्रिविध-पूजा का चौथा प्रकार है ।

(७) तामसी, राजसी और सात्विकी के भेद से भी त्रिविध-पूजा होती है ।

(८) पुष्प, नैवेद्य, स्तुति और प्रतिपत्ति से चतुर्विध पूजा होती है ।

(९) पुष्प, अक्षत, गंध, धूप और दीपक के भेदों से पंचोपचार पूजा होती है ।

(१०) गन्ध, धूप, अक्षत, पुष्प, दीप, नैवेद्य, फल और जल के भेदों से 'अष्टप्रकारी' पूजा होती है ।

(११) १. विलेपन, २. वस्त्रयुगल, ३. पुष्पारोहण, ४. माल्यारोहण, ५. गन्धारोहण, ६. चूर्णारोहण, ७. वर्णकारोहण. ८. वस्त्रारोहण, ९. आभरणारोहण, १०. पुष्पगृह, ११. पुष्पप्रकर, १२. अष्टमंगला-लेखन, १३. धूप और १४. अष्टोत्तर शतकाव्य द्वारा स्तुति । ये १४ प्रकार की सूत्रोक्त पूजा है । सूर्याभदेव आदि देवों ने इस प्रकार से पूजा की है ।

इन विविध-पूजाओं का मध्यकाल में किस प्रकार और कब-कब विकास हुआ यह संक्षेप में देखें । परन्तु इसके पूर्व जैन-शासन की पूर्वकाल से गिरती आती स्थिति का संक्षेप में परिचय पाना आवश्यक है । अतएव यही किया जा रहा है ।

जिनपूजापद्धति में विकृति का बीजारोपण :

ऊपर हम देख आए हैं कि पूर्वकाल में सर्वोपचारी-पूजा पर्व-विशेषों में ही होती थी । पूजा के विकास के साथ-साथ उसके निर्माण का भी विकास होता गया । यह पर्वकृत्य के रूप से हटकर नित्यकृत्य की ओर झुका । समय ने भी उसका साथ दिया । पड़ोसी वैदिकधर्मी हिन्दुओं में उसने अपना अड्डा जमा ही लिया था । फिर जिनपूजक पीछे कैसे रहते ? वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायों में नित्यस्नान की प्रवृत्ति बढ़ रही थी । जैन-श्रमण जो तब तक

बहुधा वन-उद्यानों में रहते थे, धीरे-धीरे वसतिवासी हो रहे थे। वसति में उनके रहने के मकानों की तंगी होने लगी। इसलिए नए बनते जिन मंदिरों की हद में साधुओं के रहने योग्य स्थान बनवा कर गृहस्थों ने श्रमणों को उनमें उतारना शुरू किया। इस योजना से साधुओं के उतरने के स्थानों की समस्या बहुधा हल हो गई। परन्तु जो साधुओं के लिए बनवाए गए मकानों में उतरना योग्य नहीं समझते थे, वे त्यागी साधु गृहस्थों के खाली मकानों अथवा उसी प्रकार के अन्य निर्दोष स्थानों में उतरते थे। प्रारम्भ में इस प्रकार के वसतिवासी श्रमणों की संख्या बहुत ही कम थी। उनका मुख्य भाग चैत्याश्रित मकानों में रहता था और वह चैत्यवासी नाम से पहचाना जाने लगा था। प्रारम्भ में इन 'चैत्यवासियों' में महान् विद्वान् और क्रियापात्र साधु भी अच्छी संख्या में थे। परन्तु गृहस्थों के प्रतिबन्ध और चैत्यों की व्यवस्था में शामिल होने के बाद कुछ पीढ़ियों के अन्त में वे अधिक शिथिलाचारी बन गए थे। विक्रम की चतुर्थशती के प्रारम्भ से इनमें शैथिल्य घुसने लगा था और पंचमशती के अन्त तक ये इतने शिथिलाचारी बन गए थे कि सुविहित साधुओं को इनके साथ का संबंध तोड़ देना पड़ा था। यह सब होने पर भी उस समय संघ पर चैत्यवासियों का प्रभुत्व था। संख्याबल के अतिरिक्त उनके पास विद्वत्ता भी कम नहीं थी। इस कारण से विक्रम की छठी शती से दसवीं शती के अन्त तक के ५०० वर्षों में इनका एक छत्र साम्राज्य रहा। इन ५०० वर्षों के दरमियान भी "सुविहित श्रमणों की परम्पराएं" तो चलती रही थी। उनमें अच्छे-अच्छे ग्रन्थकार भी होते रहे थे। फिर भी चैत्यवासियों का खुला विरोध करने का वे जोखिम नहीं उठाते थे। परिणाम स्वरूप निरंकुश बने हुए चैत्यवासी अपनी करनी से ही धीरे-धीरे निर्बल होने लगे। दसवीं शती तक वे पर्याप्त रूप में निर्बल हो गए थे। उनमें विद्वानों की संख्या भी घटी थी। साथ ही संयम मार्ग में अति शैथिल्य आने के कारण गृहस्थवर्ग का उनके प्रति आदर भी कम हो चला था। इसके विपरीत सुविहितों की संख्या बढ़ती जा रही थी और चैत्यवास के हिमायती श्रमण प्रतिदिन कम हो रहे थे। फिर भी चैत्यवासी तब तक बिलकुल निर्मूल नहीं हुए थे। द्रोणाचार्य, सूराचार्य, थारापदगच्छीय शांतिसूरि जैसे प्रौढ़ प्रतापी विद्वान् चैत्यवासी विद्यमान थे। दसवीं शती के बाद भी वे अपने नामों से पहचाने जाते थे और उनको शासन के स्तम्भ समझकर सुविहित आचार्य भी उनका आदर करते थे।

उपर्युक्त चैत्यवास की प्रधानतावाले ५०० वर्ष यद्यपि जैनाचार की अपेक्षा से पतनकाल के थे, तथापि इस समय में जितने विद्वान् हुए उतने कालान्तर में नहीं हुए और इस समय में मौलिक जैन साहित्य का जितना निर्माण हुआ उतना अन्य समय में शायद ही हुआ होगा। सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, पादलिप्तसूरि जैसे प्रभावक, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैसे भाष्यकार, जिनदासगणि महत्तर जैसे चूर्णिकार, याकिनी महत्तरासूनु हरिभद्रसूरि जैसे श्रुतधर, सिद्धसेन गणि, शीलांकाचार्य जैसे प्रसिद्ध टीकाकार आदि इसी समय के ज्योतिर्धर थे। दिगंबर जैन संप्रदाय में भी इस समय में जितने विद्वान् हुए और ग्रन्थों का निर्माण हुआ उतना दूसरे काल में नहीं हुआ।

इसी चैत्यवास प्रधान समय में चैत्यवासियों द्वारा रची गई जो सर्वमान्य कृतियाँ हैं जैसे कि "प्रतिष्ठाविधि", "अर्हदभिषेकविधि", "जिनस्नानविधि", उनका पिछले समय में बने हुए इन विषयों के ग्रन्थों के कर्ताओं ने उपजीवन ही नहीं किया बल्कि इन ग्रन्थों के कर्ताओं से मार्गदर्शन तक पाया है और इस हिसाब से देखें तो यह चैत्यवासियों का समय बहुत ही उपकारक था। परन्तु यह भी सत्य है कि श्रमण-धर्म का मार्ग इसमें प्रतिदिन पतन की ओर जा रहा था। परिस्थिति अधिक से अधिक बिगड़ती चली जा रही थी। परिणाम स्वरूप समाज की भावना भी बदलने लगी थी। समाज के समझदार धर्मार्थी लोग अप्रतिबद्ध विहारी सुविहित साधुओं की ओर झुकने लगे और यह परिवर्तन प्रतिग्राम बद्धमूल चैत्यवासियों को ईर्ष्याजनक था। वे सुविहितों के साथ ईर्ष्या ही नहीं करते थे बल्कि उनको तकलीफ पहुंचाने की नीच प्रवृत्तियों तक पहुँच गए थे। ग्यारहवीं शती के अंतिम भाग से तो उनके सामने सुविहित श्रमण खुल्लमखुल्ला शास्त्रार्थ करने की चुनौती देने लगे थे। साधुओं के इन विवादों में गृहस्थों को भी विभक्त होना पड़ा और प्राचीन समय से चली आती संघ की व्यवस्था टूट गई और नए-नए गच्छ और नई-नई सामाचारियाँ निर्मित होने लगीं। १२ वीं शती के मध्य भाग से १३ वीं शती के मध्य भाग तक के एक सौ वर्ष में छोटी-छोटी बातों में विरोध उठाकर "पौर्णमिक", "आंचलिक", "सार्धपौर्णमिक", "खरतर" और "आगमिकों" ने अपनी-अपनी नई सामाचारियाँ बनाकर अपने-अपने गच्छ व्यवस्थित किए और पृथक्-पृथक् परम्पराएं चलाईं। प्रारम्भ में ये नूतन गच्छ मूल-परंपरा से अधिक दूर नहीं गए थे, परन्तु कालक्रम से परस्पर का अन्तर बढ़ता गया। आज तक

कुछ गच्छ तो इतने दूर चले गए हैं कि उनका मौलिक रूप नगण्य रह गया है। फिर भी गच्छ के नायकों में उदार भावना प्रगट हो जाए तो मूल मार्ग के निकट आना असंभावित नहीं है। कुछ भी हो, चैत्यवासियों का खंडन करते समय नवीन गच्छवालों ने कतिपय प्राचीन परम्पराओं को भी दूर फेंक दिया है, जो पूर्वधरों के समय से चली आनेवाली प्रामाणिक परम्पराएं थीं। चैत्यवास के पतनकाल के बाद निकलनेवाले नूतन गच्छवाले भले ही अपनी नवीन परंपराओं को प्राचीन मार्ग के जीर्णोद्धार का नाम दें, परन्तु जीर्णोद्धार के बदले इस संघर्ष ने 'संघ-व्यवस्था' की कमजोरी बढ़ाई है और व्यवस्था टूटने के कारण संघ की विश्रृंखलता को बल दिया है।

चैत्यवास के इतिहास का प्रकरण यहाँ उपस्थित करने का मूल कारण यह है कि हमारी 'जिनपूजा-विधि' की विकृति के बीज भी इसी काल में बोए गए थे। चैत्यवासी आचार्यों का अधिक भाग चैत्यों में रहता था, यही नहीं बल्कि चैत्यों की व्यवस्था के लिए नियुक्त होनेवाले गोष्ठीमंडलों के प्रमुख के रूप में ये आचार्य अपना फर्ज अदा करते थे। इनकी इच्छानुसार चैत्यों की व्यवस्था होती और पूजा आदि की व्यवस्था भी इनके मतानुसार ही होती थी।

परन्तु नित्यस्नान जैसी अंतिम एवं आज अनिवार्य, कोटि की विकृति तो उस समय में भी दाखिल नहीं हुई थी। हाँ, "सर्वोपचारी पूजा" की अति प्रवृत्ति इन्हीं ने बढ़ाई थी। फलस्वरूप सुविहित श्रमणों ने भी बारहवीं शती में चैत्यवासियों के साथ-साथ नित्यस्नान का उपदेश देना शुरू किया और तब से नित्यस्नान की यह प्रवृत्ति बढ़ती ही रही थी।

—शेष आगामी अंक में

न्यायोचित विचारोंका अभिनन्दन

पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

जून मास के 'श्रमण' अंक ४ में मुनि श्री न्यायविजय जी की एक 'नम्र-विज्ञप्ति' मुझे हाल ही में पढ़ने को मिली, जो समग्र जन संघ को लक्ष्य करके लिखी गई है। पढ़ने पर मालूम हुआ कि मुनिजी अच्छे उदार विचारों के साधु हैं, जैनधर्म एवं जिनशासन के महत्व को हृदयंगम किये हुए हैं, उसका समुचित प्रचार और प्रसार न देखकर उनका हृदय आकुलित है और यह देख कर तो वह बेचैन हो उठता है कि देश के राजनीतिज्ञ नेता तथा दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् जब भी देखो तब दूसरे बौद्धादि धर्मों का तो गौरव के साथ निर्देश करते हैं परन्तु जैनधर्म का नाम कोई कदाचित् ही ले पाते हैं; जबकि जैनधर्म गौरव में किसी से भी कम नहीं है—उसका तत्त्वज्ञान बहुत उच्चकोटि का और उसका साहित्य सब विषयों के उत्तम ग्रन्थों से समृद्ध है। साथ ही, उसके प्रवर्तक परम-त्यागी—तपस्वी, महान् ज्ञानी, विश्वकल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत और विश्वहित के अनुरूप सन्मार्ग का प्रचार करने वाले हुए हैं। ऐसे महान् लोकहितकारी जैनधर्म को प्रसिद्धिविहीन देखकर मुनिजी के चित्त को चोट पहुँची है और वे उसका दोष जैनधर्म के प्रचारकों, श्रावकों तथा साधुओं दोनों को ही दे रहे हैं—'श्रावक अपने व्यापार-धन्धे में मशगूल रहे और साधुजन कुछ साम्प्रदायिक अन्य प्रवृत्तियों में ऐसे निमग्न हो गये कि इस महान् धर्म का विशेष फैलाव करने की ओर सक्रिय उत्साहित नहीं हुए।' इसी से जैनधर्म का जितना और जैसा प्रचार होना चाहिए था वह नहीं हुआ; इस पर अपना खेद व्यक्त करने के अनन्तर मुनिजी ने लिखा है:—

"परन्तु अब खेद की स्थिति में न पड़ा रहकर समय को पहचानते हुए चतुर्विध संघ को जैनधर्म का विस्तार करने के लिए कटिबद्ध हो जाने की आवश्यकता है। प्रचार के लिये आवश्यक है व्यापक दृष्टि, व्यापक भावना और व्यापक मिशन।"·········"जब तक हमारी अन्दर की संकुचित दृष्टि और बाडाबंदी की मनोदशा दूर नहीं हो जाती, तबतक 'सब जीव करूँ शासन रसी' की भावना को साकार रूप मिलना संभव नहीं है।"

"शाखाओं के बीच की भेदक व अवरोधक दीवालों को दूर करना आवश्यक है। इसी में जिन शासन की मुख्य सेवा समाई हुई है फिर भी क्रियाकांड की योजनाओं में 'रुचीनां वैचित्र्यात्' अर्थात् रुचिभेद के कारण सामान्य अन्तर हो तो उसे महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। जैसे सब अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भोजन करते हैं, वैसे ही सबको अपनी-अपनी रुचि के अनुसार क्रियाकांड करते रहना चाहिए।"

"परन्तु शाखाओं के बीच जो बड़े अवरोधक हैं, उनका इलाज किये बिना चल नहीं सकता। यदि जिनशासन का लाभ संसार के विशाल प्रदेश में प्रसारित करना हो तो दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक आदि भिन्न-भिन्न प्रवाहों में जो संघर्ष चल रहा है उसे अब मिटा देना ही होगा। इन प्रवाहों के प्रश्न ऐसे नहीं कि इनका हल न निकले। मन साफ हो तो सुसंगति साध्य है। दीर्घकाल के संस्कार तथा परम्परा का शोधन होना अवश्य कठिन है, परन्तु सत्यके अन्वेषक सत्य-भक्त, मध्यस्थ चिन्तन द्वारा सत्य का अवलोकन होने पर असत्य की दीर्घकालीन पोषित वासना को दूर कर देने का सामर्थ्य दिखा सकते हैं। यह समझ लेना चाहिए कि बाडानिष्ठा हीनवृत्ति है, जब कि सत्यनिष्ठा एक उच्च तथा कल्याणरूप वृत्ति है। समझदारों को कल्याणकामी बनकर बाडानिष्ठा त्याग सत्यनिष्ठा प्रकट करना चाहिए। सम्प्रदायचुस्तता मोक्षका मार्ग नहीं है। मोक्ष का मार्ग है वीतरागता की साधना, जिसका आरम्भ सत्यनिष्ठा में से होता है।"

इस सद्विचारों के अनन्तर मुनि जी ने 'सुसंगठन के मार्ग को सरल बनाने के लिए सब शाखाओं-सम्प्रदायों को कुछ न कुछ छोड़ना पड़ता ही है' ऐसा लिखकर किसको क्या छोड़ने की जरूरत है, इस विषय में अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमें के प्रमुख विचार इस प्रकार हैं :—

(१) "श्वेताम्बर मूर्तिपूजक वर्ग को जिनप्रतिमा पर अंगरचना करना बन्द कर देना चाहिए, मुकुट अथवा कोई भी आभूषण जिनप्रतिमा पर नहीं लगाना चाहिए। यह परिवर्तन शास्त्रानुकूल होने के कारण श्वेताम्बर मूर्तिपूजक वर्ग को करना उचित है।" इसके समर्थन में जो फुट नोट दिया है वह इस प्रकार है :—

"वीतराग भगवान् की मूर्ति पर वीतराग का दिखावा होना उचित है। यह सहज ही समझ में आने लायक बात है। जिनेन्द्र देव की ध्यानस्थ वीतराग योगी की आकृति वाली मूर्ति पर वीतरागता के साथ संगत नहीं, वीतराग

मूर्ति को न शोभे ऐसा दिखावा अंगरचना द्वारा करने में आता है। इसे बन्द कर दिया जाए यही शोभनीय है।"

(२) स्थानकवासी और तेरापंथी वर्ग को मुख पर मुखवस्त्रिका बांधना बन्द करना चाहिए। उसे हाथ में रख उसका उपयोग करना चाहिए। यह परिवर्तन जरा भी हिचकिचाहट बिना प्रसन्नता से किया जावे, क्योंकि इसमें शास्त्राज्ञा का कोई भी अटकाव नहीं है।"

(३) तपागच्छ आदि सांवत्सरिक पर्व पंचमी का करें और चौमासी पूनम की एवं पक्खी पूनम और अमावस की करें। भादों सुदी पंचमी दिगम्बर समाज का भी मुख्य धार्मिक दिवस है। अर्थात् इस दिन की सांवत्सरिक पर्व की फिर से योजना करने से समग्र जैन समाज का यह मुख्य धार्मिक दिवस बन जाएगा। सामाजिक संगठन की दृष्टि से यह बहुत भारी लाभ है।" ......इस प्रकार का परिवर्तन करने में जिनाज्ञा की कोई रुकावट नहीं है यह मैं अपने पूरे अंतर-बल से कहता हूँ।" इत्यादि।

(४) हमारे सब उत्सव-महोत्सव पवित्र ज्ञान और कल्याणवाही संस्कार के उद्बोधक, प्रबोधक और शिक्षक रूप होने-बनने चाहिए। सब प्रदर्शन सादे, संयमित और भाववाही बनने चाहिये। इससे आम जनता में जिनशासन की प्रेरणा मिले ऐसी सुन्दर प्रभावना होगी।"

(५) हमारी साध्वियों को हमें व्याख्यान देने की छूट देनी चाहिये। जैन समाज के अनेक वर्गों में इस प्रकार की छूट है ही। तपागच्छवालों को भी, उनकी साध्वियाँ अपने पवित्र ज्ञान का लाभ जैन ही नहीं आम जनता (तक) को दें इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये। सभा में वे औचित्यपूर्ण ऊँचे आसन पर बैठें यह तो उनके गुण-गौरव के लिए शोभनीय ही है। सभा में साधु, मुनिवरों की उपस्थिति में जब गृहस्थ स्त्रियाँ भाषण दे सकती हैं, देती हैं तो फिर साध्वियाँ व्याख्यान क्यों नहीं देवें? और उसे सुनने में साधु-मुनिवरों को ऐतराज क्या हो सकता है?"

(६) आचार्य हरिभद्र ने अपनी जन्मदात्री माता का तो कहीं भी कोई उल्लेख नहीं किया, परन्तु अपने को प्रेरणा देने वाली साध्वीजी का उल्लेख अपने को उनका धर्मपुत्र बताते हुए अपने प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में किया है और इस तरह उन साध्वीजी का महत्व ख्यापित करते हुए उन्हें पूज्यता प्रदान की है। इस बात का उल्लेख करके मुनि जी ने लिखा है :—

"ऐसा गौरव रखने वाली साध्वीजी दीक्षा-पर्याय में पचास वर्ष की हों और उनके निर्मल चारित्र की सुगंध फैली हो तो भी वह तत्क्षणदीक्षित हुए नये छोटे साधु को वन्दन करे, यह बड़ा अद्‌भुत लगता है। इसमें चारित्र-पर्याय के मूल्य की अवगणना करते हुए जातीय शरीर का बहुमान होता क्या हमें नहीं दिखलाई देता ?"

मुनिजी के ये सब विचार न्यायोचित हैं और इसलिए मैं इनका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। जैन संघ की जिस-जिस शाखा—वर्ग, सम्प्रदाय तथा गच्छादि से इन विचारों का सम्बन्ध है, उन्हें शीघ्र ही इन विचारों को न्याय-विहित एवं उपयोगी समझ कर बिना किसी झिझक के कार्य में परिणत करना चाहिए, और इस तरह अपनी सत्यनिष्ठा, सच्ची जिनशासन-भक्ति और सही समाज-हितैषिता का परिचय देना चाहिए। ऐसा होने पर जैनधर्म के जो तीन-चार बड़े टुकड़े हो रहे हैं वे जुड़ने की ओर प्रेरित होंगे, उनमें परस्पर जो संघर्ष चल रहा है जिसके कारण उनकी शक्ति का ह्रास हो रहा है वह मिटेगा और जैनधर्म तथा जैन समाज का एक अच्छा प्रभावशाली संगठन तैयार होने का मार्ग साफ़ हो जाएगा। पूर्वजों के द्वारा देश-काल की परिस्थितियों तथा अपनी-अपनी समझ एवं कषायों के वश जो कुछ कार्य पहले ऐसे बन गये हैं जो आज न्यायोचित तथा समाज के हितकारी मालूम नहीं होते उनके लिए पूर्वजों को दोष देने या उनके साथ चिपटे रहने की जरूरत नहीं है। हमें विवेक से काम लेकर और अपनी वर्तमान परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर जो हितरूप परिवर्तन है उसे करना ही चाहिये। इसमें आगम से कोई बाधा नहीं आती और न किसी शास्त्राज्ञा का विरोध ही घटित होता है। आगम-शास्त्र सदा से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार परिवर्तन की बात कहते आए हैं और जिनशासन में परीक्षापूर्वकारिता की ही प्रधानता रही है, न कि रूढ़ि पालन की। इसी से रूढ़िचुस्तता अथवा सम्प्रदायचुस्तता (कट्टरता) कोई मोक्षमार्ग नहीं, ऐसा जो मुनि जी ने लिखा है और बाडानिष्ठा को हीन-वृत्ति बतलाया है वह सब ठीक ही है। यह सब एकान्त को अपनाने और अनेकान्त की ओर पीठ देने के परिणाम हैं, इसी से परस्पर संघर्ष तथा विरोध चलता है; अन्यथा अनेकान्त तो विरोध का मंथन करने वाला है; तब अनेकान्त के उपासकों में विरोध कैसा ? विरोध को देखकर यही कहना पड़ता है कि वे अपने को अनेकान्त के उपासक कहते जरूर हैं परन्तु अनेकान्त की उपासना

से कोसों दूर हैं; और यह उनके लिए बड़ी ही लज्जा, शरम तथा कलंक की बात है।

अनेकान्त दृष्टि को, जिसे स्वामी समन्तभद्र ने सती—सच्ची दृष्टि बतलाई है और जिससे युक्त न होनेवाले सब बचनों को मिथ्या वचन घोषित किया है,[१] अपनाये तथा अपने जीवन में उतारे बिना जैनधर्म अथवा जिनशासन का कोई प्रचार-प्रसार नहीं बनता। स्वयं समन्तभद्र अनेकान्त के अनन्य उपासक थे, उन्होंने उसे अपने जीवन में पूर्णतः उतारा था, उनकी जो कुछ भी वचन-प्रवृत्ति होती थी वह सब लोकहित की दृष्टि को लिए हुए स्याद्वाद-न्याय की तुला में तुली हुई होती थी, इसीसे किसी को भी उसका विरोध करते प्रायः नहीं बनता था और वे अपने जिनशासन-प्रचार-मिशन में पूर्णतः सफल हुए हैं। यही वजह है कि बेलूर तालुके के एक प्राचीन कनडी शिला लेख नं० १७ में, जो शक संवत् १०५९ का उत्कीर्ण है, स्वामी समन्तभद्र को श्री वर्धमान के तीर्थ-शासन की हजार गुनी बृद्धि करते हुए उदय को प्राप्त होने वाले लिखा है।

जिनशासन का प्रचार करने के लिए स्वामी समन्तभद्र के उदार दृष्टिकोण, लोकहित की भावना और उस निर्दोष वचनपद्धति को अपनाना होगा, जिसमें वह मोहन-मंत्र छिपा था जिसने उन्हें सर्वत्र सफल-मनोरथ बनाया है।[२] स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के महामान्य आचार्यों में परिगणित हैं। उन्होंने अपने युक्त्यनुशासन ग्रंथ में जिनशासन को एकाधिपतित्व रूप लक्ष्मी का—सभी अर्थ-क्रियार्थि-जनों के द्वारा अवश्य आश्रयणीय रूप सम्पत्ति का—स्वामी होने की शक्ति से सम्पन्न बतलाया है और उसके अपवाद का—एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकने अथवा व्यापक रूप से प्रचार न पा सकने का असाधारण बाह्य कारण[३] वक्ताके वचनाऽनयको—आचार्यादि प्रवक्तृवर्ग-द्वारा सम्यक्नय-विवक्षा को छोड़कर सर्वथा एकान्त रूप से उपदेश दिये जाने को—निर्दिष्ट किया है, अतः वचनाऽनय के दोष से रहित होकर उपदेश देना चाहिए—सर्वथा एकान्त के आग्रह को लिए हुए नहीं।

---

[१] अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥ (स्वयम्भूस्त्रोत्र)

[२] देखो, 'स्वामी समन्तभद्र'।

[३] साधारण बाह्यकारण में कलिकाल का निर्देश है।

बाकी यह खूबी जिनशासन में स्वतः है कि उससे यथेष्ट—काफ़ी द्वेष रखने वाला—उसकी भरपेट निन्दा करने वाला—भी यदि मध्यस्थ वृत्ति हुआ उपपत्ति-चक्षु से—मात्सर्य के त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधान की दृष्टि से—उसका अवलोकन—परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानश्रृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्त रूप मिथ्यामत का आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र से समन्तभद्र बन जाता है—मिथ्या दृष्टि से सम्यक् दृष्टि होकर जिनशासन का अनुयायी हो जाता है। इसी बात को स्वामी समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन के निम्न पद्य में बड़ी ही दृढ़ श्रद्धा के साथ उद्घोषित किया है :—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृंगोभवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ।।

अतः अपने को ठीक करके, जिनशासन के प्रचार में ज़रा भी संकोच तथा सन्देह करने की ज़रूरत नहीं है—वह अवश्य सफल होगा। आजकल तो समय भी उसके बहुत अनुकूल है, लोगों की मनोवृत्ति बदल रही है—पक्षपात की भावनाएँ दूर होकर उपपत्ति-चक्षु खुलती जा रही है—और प्रचार के साधन भी इतने अधिक उपलब्ध तथा सुलभ हो रहे हैं, जो पहले कभी प्राप्य नहीं थे। ऐसे सुअवसर को पाकर भी यदि हम शासन के प्रचार कार्य में अग्रसर न हुए तो यह हमारे लिए एक दुर्भाग्य की बात होगी और यह समझ लेना अनुचित न होगा कि हमारे अन्तःकरण में जिनशासन की सच्ची भक्ति नहीं है—भक्ति के ऊपरी कोरे गीत ही गीत हैं।

पउमचरियं : संक्षिप्त कथावस्तु

डा० के० रिषभचन्द्र

(गताङ्क से आगे)

प्रधान कथानक रामचरित :

२१–२२. राम की कथा प्रारम्भ करने के पहले गौतम हरिवंश की उत्पत्ति की कथा और मुनिसुव्रत के संक्षिप्त जीवन-चरित का वर्णन करते हैं। इसी वंश में मिथिला नगरी के राजा वासवकेतु और रानी इला को जनक नाम का एक पुत्र उत्पन्न होता है। बीच में फिर इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न साकेत के राजा वज्रबाहु, कीर्तिधर, सुकोशल, नघुष और सौदास का वर्णन किया जाता है तथा राजा अनरण्य तक की इक्ष्वाकुवंशावली दी जाती है। अनरण्य के दो पुत्र उत्पन्न होते हैं, अनन्तरथ और दशरथ। बड़े भाई के दीक्षा लेने पर दशरथ अयोध्या की राजगद्दी प्राप्त करते हैं और अपराजिता तथा सुमित्रा से ब्याह करते हैं।

राम का जन्म और विवाह :

२३. एक बार नारद दशरथ और जनक को ऐसे समाचार देते हैं कि विभीषण उनका अन्त करने की तैयारी कर रहा है, क्योंकि एक भविष्यवाणी में ऐसा बतलाया गया है कि दशरथ का पुत्र जनक की पुत्री के लिए रावण की मृत्यु का कारण बनेगा। यह वृत्तान्त सुनकर राजा दशरथ और जनक अपने महलों में अपनी कृत्रिम आकृतियाँ स्थापित करवाकर अपने राज्यों को छोड़कर गुप्त वेश में बाहर निकल पड़ते हैं। इधर विभीषण उनकी हत्या करने आता है तथा रात को अन्धेरे में उन प्रतिमाओं को सच्चे पुरुष समझकर उनका वध करके संतोष के साथ लंका लौट जाता है।

२४. दशरथ और जनक प्रच्छन्न वेश में कौतुकमंगलपुर पहुँचते हैं। वहाँ पर राजा शुभमति की पुत्री कैकेयी का स्वयंवर हो रहा था। उसमें वह राजा दशरथ को अपना पति चुनती है। वहाँ पर उपस्थित अन्य राजपुरुष अपनी

विफलता के कारण दशरथ से युद्ध छेड़ते हैं। इस अवसर पर कैकेयी दशरथ के युद्धरथ का संचालन बड़ी ही दक्षता के साथ करती है और वे विजयी होते हैं। कैकेयी के साथ ब्याह करके दशरथ अयोध्या लौटते हैं और पूर्व सफलता की खुशी में कैकेयी को एक वरदान देते हैं।

२५. कुछ काल बाद अपराजिता के पद्म (राम), सुमित्रा के लक्ष्मण और कैकेयी के युगल रूप में भरत तथा शत्रुघ्न नामक पुत्र उत्पन्न होते हैं। अइ(चि)रकुक्षि नामक गुरु के पास वे शिक्षा ग्रहण करते हैं और धनुर्विद्या में भी पारंगत होते हैं।

२६–२७. इधर मिथिला में जनक की रानी विदेहा सीता नामक पुत्री को जन्म देती है। उसके एक पुत्र भी उत्पन्न होता है परन्तु उसी दिन एक देव (पूर्वजन्म के द्वेष के कारण) उसका अपहरण कर लेता है तथा उस नवजात शिशु को दूर एक उद्यान में छोड़कर चला जाता है। रथनूपुर का विद्याधर राजा चन्द्रगति उस बच्चे को उठा ले जाता है तथा उसे अपने पुत्र के रूप में अपनाकर उसका नाम भामंडल रखता है। कुछ काल के पश्चात् अर्द्धबर्बर नामक म्लेच्छ लोग राजा जनक के राज्य पर आक्रमण करते हैं। जनक की प्रार्थना पर दशरथ अपने पुत्र राम तथा लक्ष्मण को उनकी सहायतार्थ भेजते हैं। वे उन म्लेच्छों को मार भगाते हैं। जनक राम की बहादुरी से प्रसन्न होकर अपनी पुत्री सीता का सम्बन्ध उनके साथ जोड़ देते हैं।

२८. नारद इस सम्बन्ध के समाचार पाकर सीता को देखने की इच्छा से एक दिन उसके महल में प्रवेश करते हैं। सीता उनकी जटाजूट से भयभीत होकर चिल्ला उठती है। इस पर उसके रक्षक लोग नारद को मार भगाते हैं। इस अपमान का बदला लेने के लिए नारद एक युक्ति सोच निकालते हैं। वे सीता को आपत्ति में फँसाने के लिए उसका एक सुन्दर चित्र रथनूपुर के उद्यान में रख देते हैं। भामंडल उस चित्र को देखकर मोहित हो जाता है और उससे शादी करने की इच्छा प्रगट करता है। उसके पिता चन्द्रगति एक विद्याधर को मिथिला भेजते हैं। वह एक उत्तम अश्व का रूप धारण करके राजा जनक को धोखा देकर उसे रथनूपुर ले आता है। भामंडल और सीता के व्याह की बात सुनकर जनक अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं क्योंकि सीता का सम्बन्ध राम से स्थापित हो चुका था। इस पर चन्द्रगति जनक को एक धनुष देता है और कहता है कि यदि राम वास्तव में एक वीर पुरुष है तो

वे इस धनुष को चढाएँगे, नहीं तो सीता की शादी उनसे नहीं हो सकती। जनक घर लौटकर सीता के स्वयंवर का आयोजन करते हैं। उसमें अनेक राजा लोग उपस्थित होते हैं। राम इन सबके बीच सफल होते हैं। लक्ष्मण भी इस धनुष को चढ़ा लेते हैं। इस पर उपस्थित विद्याधर राजा अपनी कन्याएँ लक्ष्मण को विवाह में भेंट करते हैं। यह सब देखकर भरत का मन उदास हो जाता है। कैकेयी इस स्थिति को ताड़ लेती है। वह तुरन्त दशरथ के जरिये जनक के भाई कनक की पुत्री सुभद्रा का भी स्वयंवर रचवाती है और सुभद्रा भरत को अपना पति चुनती है। इस प्रकार राम और भरत सीता तथा सुभद्रा से शादी करके अयोध्या लौट आते हैं।

राम का वनवास :

२९. एक बार अट्ठहिका-महोत्सव के अवसर पर राजा दशरथ जिनाभिषेक का पवित्र जल अपने कञ्चुकी के हाथ अपनी रानी के पास भेजते हैं, परन्तु कञ्चुकी अपनी वृद्धावस्था के कारण समय पर कार्य पूरा करने में असमर्थ होता है इस पर दशरथ उसको फटकारते हैं। ऐसी निस्सहाय स्थिति में कञ्चुकी अपनी अवस्था का करुणात्मक चित्र उपस्थित करता है, जिससे दशरथ के हृदय को आघात पहुँचता है और उन्हें सांसारिक जीवन से विराग हो जाता है। ऐसे ही में श्रमण सर्वसत्त्वहित का वहाँ पर आगमन होता है। दशरथ उनकी वन्दना करने जाते हैं तथा उनसे धार्मिक उपदेश सुनकर घर लौट आते हैं।

३०. उधर भामण्डल सीता के प्रणय-वियोग का दुःख सहन करने में असमर्थ होने के कारण अयोध्या के लिए चल पड़ता है। बीच में विदर्भनगर आने पर उसको जातिस्मरण होता है और सच्ची स्थिति का ज्ञान होता है कि सीता उसकी बहिन है। तब वह अपने पिता चन्द्रगति को साथ में लेकर मुनि सर्वसत्त्वहित के वन्दनार्थ अयोध्या पहुँचता है। चन्द्रगति उस अवसर पर सर्वसत्त्वहित का शिष्य बन जाता है। राजा दशरथ भी उस समय अपने कुटुम्ब के साथ वहाँ पर उपस्थित थे। मुनि से चन्द्रगति और भामण्डल के पूर्वजन्म की कथा सुनकर वे भामण्डल को अपने गले लगाते हैं तथा उसको उसके पिता जनक से मिला देते हैं।

३१. एक बार दशरथ मुनि सर्वसत्त्वहित से अपने पूर्वजन्म की कथा सुनकर संसार त्याग देने का निश्चय करते हैं। वे राम को सिंहासनारूढ करने

के लिए अपनी आज्ञा प्रसारित करते हैं। भरत भी अपनी मुक्ति के लिए अपने पिता के साथ साधु बनने की इच्छा प्रकट करते हैं। कैकेयी को इससे भारी दुःख होता है। वह अपने पति और पुत्र दोनों के वियोग की पीड़ा को सहन करने को बिल्कुल तैयार नहीं थी। वह भरत को सांसारिक जीवन में जकड़े रखने का एक उपाय सोचती है। इसके लिए वह दशरथ से अपने वरदान के बदले में भरत के लिए अयोध्या की राजगद्दी मांगती है। दशरथ राम और लक्ष्मण को बुलाकर उनकी सम्मति से कैकेयी की इच्छा पूरी करने की आज्ञा देते हैं। इस पर भरत अपने ज्येष्ठ भाई के जायज हक पर अतिक्रमण करने से स्पष्ट इन्कार करते हैं। राम भरत को अनेक तरह से समझाते हैं परन्तु भरत को टस से मस होते न देखकर वे अपने आप अयोध्या के राज्य को छोड़ देने का निश्चय करते हैं, जिससे उनके पिता के वचन झूठे नहीं पड़ें तथा उनकी माता की इच्छा चाहे वह सौतेली ही क्यों न हो, बिना किसी बाधा के पूरी हो जावे। ऐसी परिस्थिति में भरत की एक भी नहीं चलती और राम, लक्ष्मण तथा सीता अयोध्या को छोड़कर किसी दूर स्थान के लिए चल पड़ते हैं।

३२. वे अयोध्या से पच्छिम दिशा की ओर बढ़ते हुए, पारियात्र वन में प्रवेश करके, गम्भीरा नामक नदी पर विश्राम के लिए ठहरते हैं। उधर दशरथ भरत को राज्यभार सौंप कर दीक्षा ले लेते हैं। रानी अपराजिता और सुमित्रा अपने पति तथा पुत्रों से अलग हो जाने के कारण काफी दुःखी होती हैं। कैकेयी का हृदय भी उनकी ऐसी अवस्था देखकर द्रवित हो जाता है। वह भरत को आगे भेजकर स्वयं भी राम को वापिस बुलाने के लिए चल पड़ती है। राम से मिलकर वह रो पड़ती है। अपनी संकुचित दृष्टि के लिए क्षमा मांगती हुई राम को वापिस लौटने के लिए वह अनेक याचनाएँ करती है। परन्तु राम अपने वचनों पर कटिबद्ध रहते हैं। उसी क्षण वे भरत को अयोध्या का राजा घोषित करते हैं और वहाँ से दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान करते हैं। भरत अयोध्या लौटकर राम की प्रतीक्षा में समय बिताते हैं तथा दीक्षा लेने के लिए तत्पर रहते हैं।

३३. राम अपनी यात्रा में तापसकुल, चित्रकूट पर्वत आदि पार करते हुए अवन्ति के राज्य में प्रवेश करते हुए दशपुर पहुँचते हैं। वहाँ पर लक्ष्मण उज्जैन के राजा सिंहोदर को हराते हैं तथा दशपुर के राजा वज्रकर्ण को उसके

चंगुल से मुक्त करवाते हैं। दोनों राजाओं के द्वारा बहुत सी कुमारियाँ लक्ष्मण को शादी के लिए भेंट दी जाती हैं, परन्तु लक्ष्मण उनके साथ बाद में विवाह करने का वचन देकर अपनी यात्रा में आगे बढ़ चलते हैं। वे दक्षिण में मलयगिरि जाने की इच्छा प्रकट करते हुए कूववद्द (कूबरपुर) पहुँचते हैं।

३४. वहां के राजा बालिखिल्य का कागोनन्द जाति के म्लेच्छ अधिपति रुद्रभूति ने अपहरण कर लिया था। बालिखिल्य की पुत्री राजकुमारी कल्याणमाला पुरुष वेष में उस नगरी का राज्य करती थी। उसके प्रेम-प्रस्ताव पर लक्ष्मण अपनी स्वीकृति देते हैं तथा उसकी प्रार्थनानुसार वे आगे विन्ध्य अटवी में रुद्रभूति से मुकाबला करके उसको हराकर बालिखिल्य को मुक्त कर देते हैं।

३५. आगे बढ़ते हुए राम और लक्ष्मण ताप्ती नदी के क्षेत्र में पहुँचते हैं। वहाँ पर सीता को प्यास लग जाने के कारण वे नजदीक में ही स्थित अरुण ग्राम में ब्राह्मण कपिल के घर जाते हैं। वहाँ पर कपिल के हाथ उनका तिरस्कार हो जान के कारण वे निश्चय करते हैं कि अब किसी भी गृहस्थी की सहायता नहीं लेनी चाहिए। वे वहाँ से वापिस जंगल में लौट आते हैं और रामपुर नामक संनिवेश में विश्राम के लिए ठहर जाते हैं। यह संनिवेश उस निर्जन स्थान के एक यक्षाधिपति विनायक पोतन के द्वारा राम की सुविधा के लिए निर्मित किया गया था।

३६. कुछ दिन पश्चात् वे अपनी यात्रा पूर्ववत् आरंभ करते हैं। वहाँ से विदाई लेते समय वह यक्ष उन्हें एक हार, एक कुंडल की जोड़ी और एक चूड़ामणि तथा एक वीणा भेंट में देता है। वहाँ से वे विजयपुर पहुँचते हैं। वहाँ पर राजा महीधर राज्य करता था। लक्ष्मण उसकी पुत्री वनमाला को आत्महत्या करने से बचाते हैं। वह लक्ष्मण को अपने पति के रूप में पाने से हताश होकर यह निन्दनीय कार्य कर रही थी। उसको मालूम हो गया था कि लक्ष्मण अयोध्या को छोड़कर राम के साथ वनवास के लिए चले गये हैं और अब वह उनको प्राप्त नहीं कर सकती। तत्पश्चात् लक्ष्मण उसको अपनी प्रिया के रूप में स्वीकृत करने का वचन देते हैं।

३७. यहीं पर रहते हुए राम और लक्ष्मण को राजा महीधर के पास आये हुए एक सन्देश से पत्ता चलता है कि नंद्यावर्तपुर के राजा अतिवीर्य ने भरत को अपने मातहत में करने के लिए उसके ऊपर आक्रमण किया है। इस

परिस्थिति में वे नर्तकियों के छद्मवेश में अतिवीय के ऊपर धावा बोलकर उसको बन्दी बना लेते हैं। अन्त में अतिवीर्य दीक्षा ले लेता है।

३८. अतिवीर्य का पुत्र विजयरथ भरत का आधिपत्य स्वीकार करता है तथा अपनी बहिन रतिमाला और विजयसुन्दरी का संबंध लक्ष्मण तथा भरत के साथ जोड़ देता है। वहाँ से राम, लक्ष्मण और सीता विजयपुर लौट आते हैं। आगे क्षेमञ्जलीपुर में लक्ष्मण वहाँ के राजा शत्रुदमन की पुत्री जितपद्मा को एक पूर्व-निर्धारित परीक्षा में सफल होकर अपनी स्त्री के रूप में जीत लेते हैं।

३९. यहाँ से आगे चलकर वे वंशगिरि पर अपना डेरा डालते हैं। वहाँ पर वे दो मुनियों देशभूषण और कुलभूषण को एक उपसर्ग से बचाते हैं। इसके फलस्वरूप गरुडाधिपति नामक एक देव उनकी सहायता में हरदम तैयार रहने का वचन देकर अदृश्य हो जाता है।

४०. उसी स्थान का वंशस्थलपुर का राजा सुरप्रभ राम और लक्ष्मण का अभिनन्दन करता है तथा उनकी सलाह से वह उस गिरि पर जिनचैत्यों का निर्माण करवाता है। यह गिरि इस घटना के कारण रामगिरि के नाम से विख्यात हो जाता है।

४१. वहां से वे अपनी यात्रा में दण्डकारण्य में प्रवेश करते हैं। सुगुप्ति और त्रिगुप्ति नामक दो मुनियों की वन्दना करके वे उनसे धर्मोपदेश सुनते हैं। उसी समय एक जटायु नामक पक्षी पीड़ित अवस्था में उनके सामने गिर पड़ता है। मुनियों के चरण से स्पर्शित जल के द्वारा उसकी रुग्णावस्था दूर हो जाती है। उस पक्षी को सीता की देखभाल में सौंप कर वे मुनि वहाँ से विहार करते हैं।

४२. राम और लक्ष्मण सीता सहित आगे बढ़ते हुए क्रौंचरवा नामक नदी के किनारे अपना विश्रामस्थल बनाते हैं।

—क्रमशः

महर्षि अरविन्द: जैनदर्शन की दृष्टि में

श्री लक्ष्मीचंद जैन

श्रीमद् राजचंद्रजी ने एक स्थल पर लिखा है कि :—करोड़ों ज्ञानियों का एक ही अभिप्राय होता है और एक अज्ञानी के करोड़ों अभिप्राय होते हैं। इस विचार से वह व्यक्ति किसी भी देश, ज्ञाति एवं काल का हो, यदि ज्ञानी है तो उसका कहना शाश्वत होगा। मोक्षमार्ग के विषय में शंका करते हुए शिष्य श्रीमद् राजचंद्रजी से पूछ रहा है कि—

कई जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष।
अेनो निश्चय ना बने, घणा भेद अे दोष॥

अर्थात् किस जाति और वेष से मोक्ष मिलता है, इस बात का निश्चय नहीं होने से मोक्षमार्ग में बहुत से भेद और दोष दिखाई देते हैं।
समाधान में आप समझा रहे हैं कि—

जाति वेषनो भेद नहिं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे तो मुक्ति लहे, अेमां भेद न कोय॥

तात्पर्य यह कि मोक्ष का मार्ग जिसे कि गूढ़ ज्ञानियों ने बताया है उस मार्ग की जो साधना करता है वह मुक्तिपद को पाता है। इस मार्ग पर चलने में जाति, वेष, देश, काल और ऊँच-नीच का कुछ भी भेद नहीं है।

कहने का आशय यह है कि किसी भी किस्म की रूई हो और किसी भी किस्म का स्नेह–तेल हो उससे प्रकाश ही उत्पन्न होगा यदि क्रमबद्ध क्रियाओं का योग किया जाय।

इन्दौर के महावीरभवन में महावीर-जयन्ति-समारोह पर आचार्य श्री रजनीश जी ने जैनधर्म की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "संसार में केवल दो जातियाँ ही हैं। एक जैन और दूसरी अजैन। जिसने अपनी इच्छाओं को जीत लिया है वह जैन, भले ही कहने की दृष्टि से वह ईसाई, मुसलमान आदि क्यों न हो और जो अपनी इंद्रियों और इच्छाओं को नहीं जीत सका है वह अजैन, भले ही जैन कुल में जन्म हुआ हो।"

इस व्यापक पैमाने पर जब हम संसार के महापुरुषों का जैन दर्शन की दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो सहज ही उन भव्य गुणों का आभास मिलता है जिन्हें कि हम जैन सिद्धांत से उचित समझते हैं।

अध्यात्मयोगीश्वर महर्षि अरविन्द हमारे देश के एक ऐसे ही महापुरुष हो गये हैं जिन्हें कि देश, काल और जाति की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। निर्ग्रन्थ गुरुओं का संदेश यही है कि जिसने आत्मा जान ली, परख ली, उसने सब कुछ जान लिया।

श्री अरविन्द के संदेश का आशय भी यही है कि—

मानव को अपनी चेतना का अधिकाधिक विकास करते जाना है जब तक कि वह पूर्ण एवं समग्र चेतना को अधिगत नहीं कर लेता। उन्होंने यह अवश्य ही माना है कि संसार की किसी भी शक्ति से बढ़कर है आध्यात्मिक शक्ति, आत्मा की शक्ति और उसी को जाग्रत करने तथा जगत में कार्यशील करने में वे सदा प्रवृत्त रहे।

पांडिचेरी के अरविन्द आश्रम के साधकों को तीन बातों पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ता है : १. शारीरिक, २. मानसिक, और ३. आध्यात्मिक। आश्रम में सबसे अधिक बल दिया जाता है आत्मा पर या यों कहिये आध्यात्मिक जीवन पर। श्रीमाताजी की दिव्य शक्ति भी लगी हुई है साधकों के अन्तस्तल के निर्माण पर।

जैन दर्शन आत्मा को नित्य और शाश्वत मानता है। तथा देह को क्षण-भंगुर, विनाशी। इस सत्यता का परिचय श्री अरविन्द के उस जीवन से मिलता है जबकि उन्होंने ५ दिसम्बर १९५० को महासमाधि ली थी। उस अवसर पर श्रीमाताजी ने अपने संदेश में कहा कि श्री अरविन्द के लिये दुःखी होना श्री अरविन्द का अपमान करना है। श्री अरविन्द हम लोगों के साथ हैं पहले की तरह सजीव और सचेतन।

वस्तुतः किसी भी ज्ञानी की मृत्यु जिसे कि हम सामान्यतया मृत्यु कहते हैं होती ही नहीं। उनकी चेतना भौतिक शरीर की मर्यादा से कई गुना अधिक होती है। वे सशरीर होते हुए भी इस दैहिक आवरण के बहुत ऊपर और महान् होते हैं। श्रीमद् राजचंद्रजी ने अपने आत्म-सिद्धिशास्त्र के अंतिम दोहे में कहा है :—

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत ।
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित ।।

ऐसे महापुरुष जाति के लिये जो भी कार्य करते हैं वह मूलतः उनकी स्वतंत्र और विशाल आत्मा का कार्य होता है। उनके लिये वास्तव में जीवन और मृत्यु दोनों स्वप्न मात्र हैं ।

श्री अरविन्द का जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महान् है। जैन दर्शन जीवन की सार्थकता आत्म-साधना में मानता है। सांसारिक भुलावे को छोड़कर जो व्यक्ति आत्मकल्याण के मार्ग पर चलता है वही परमात्मा के निकट होता है या अपने में परमात्मा के गुण प्रकट करता है ।

श्री अरविन्द का समस्त जीवन आत्मोज्ज्वल साधना में लगा रहा। १५ अगस्त १८७२ को कलकत्ता में जन्म हुआ। आरंभ से ही वे लौकिक प्रतिष्ठा से दूर हटते रहे। आई० सी० एस० की परीक्षा का कैम्ब्रिज युनीवर्सिटी लंदन से त्याग कर सन् १८९२ में बडौदे में नौकरी की। प्रोफेसर रहे। जब उनकी ख्याति-विस्तार और ऊँचाई पर थी तो उसे छोडकर बंगाल में राजनीतिके फकीर का जीवन बिताने जेल गये। वहाँ अन्तरात्मा की आवाज सुनी। एक रात सहसा गंगा पार कर चंदननगर और फिर पांड़िचेरी पहुँच कर अज्ञात जीवन बिताने लगे। कीर्ति, श्री, संपदा आदि हाथ जोड़े सदैव उनके साथ चलती रही परन्तु इन्होंने पीछे मुड़कर कभी उनकी ओर निहारा तक नहीं ।

श्री अरविन्द के निम्न कथन जैन दर्शन से कितना साम्य रखते हैं इसे विवेकी पाठक अनुभव करेंगे ।

१. मनुष्य जितना ही ऊपर उठता है, आध्यात्मिक चरम सिद्धि की अवस्था उसके समीप आती जाती है ।

२, देवता कोई नहीं है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य के अंदर देवता है, उन्हीं को प्रकट करना देव जीवन का लक्ष्य है ।

३. जो जितना अधिक विचार करता है, विश्व के सत्य की गहराई में पैठ कर सीख सकता है, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ जाती है ।

४. जैन दर्शन शुद्ध आत्मा को भगवान् मानता है इस विषय में आप लिखते हैं कि ब्रह्म आत्मा भगवान् तो है ही ।

५. राग-द्वेष रहित अवस्था के संदर्भ में आपका कहना है कि क्रिया में, इच्छा में, संकल्प मे कहीं भी अहंकार का लेश मात्र भी नहीं रहना चाहिये।

अपने अंदर के शत्रुओं से अत्यधिक सावधान रहना होगा। रूपांतर (आत्मा को परमात्मा बनाना) कोई हँसी खेल नहीं है। यह अपने साथ एक संग्राम का जीवन है। न समाप्त होने वाला संग्राम है। हमारे अंदर के सारे विकार अपना सिर उठावेंगे, बने रहने के लिये जिद करेंगे। अज्ञान भागते-भागते भी अपने करिश्मे दिखा जाएगा (आपके इन वचनों में एक साधक की आपबीती का सहज ही दर्शन हो सकता है)।

और भी उनके पहलू हैं जो जैन दर्शन पर सत्य सिद्ध होते हैं। संक्षेप में यहाँ सभी पर विचार नहीं किया जा सकता। क्योंकि एक बात यह भी है कि महापुरुषों के जीवन-सत्यों को साधारण व्यक्ति समझ भी नहीं सकता। तुलसीदासजी ने बड़े स्पष्ट रूप में कह दिया है :—"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मुरत तिन देखी तैसी।"

अंत में श्री अरविन्द ने अपने देश की नब्ज को पहिचानते हुए कहा है "मेरी धारणा है कि भारत की दुर्बलता का प्रधान कारण पराधीनता या दरिद्रता नहीं है। अध्यात्म-बोध या धर्म का अभाव नहीं है, बल्कि चिन्तनशक्ति का ह्रास है, ज्ञान की जन्म-भूमि में अज्ञान का विस्तार है।"

यह जो विप्लव है, यह जो उलट-पलट है यह सब नव सृष्टि की पूर्वावस्था है। गुरुमहिमा के विषय में श्री अरविन्द की प्रधान शिष्या श्री माताजी का कहना है कि अपने गुरु के प्रति चाहे जो भी हों और जैसे भी वह हो, सच्चे और श्रद्धांवान रहो,'वह तुम्हें निश्चय ही वहाँ तक पहुँचा देगें जहाँ तक तुम जा सकते हो, परन्तु यदि स्वयं भगवान् ही तुम्हारे गुरु हैं तो तुम्हारी सिद्धियों और उपलब्धियों का क्या कहना।

●

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीसंघ

मुनि श्री पुण्यविजयजी

प्राचीन समय में जैन साधु और साध्वियों के लिए निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथी, भिक्षु-भिक्षुणी, यति-यतिनी, पाषंड-पाषंडिनी वगैरह शब्दों का प्रयोग हुआ है। आज इन शब्दों का स्थान मुख्य रूप से साधु और साध्वी शब्द ने ले लिया है। प्राचीन युग के उपर्युक्त शब्द-समुदायों में यति शब्द यतिसंस्था के उदय के बाद अप्रिय और भ्रष्टाचार का सूचक बन गया है। पाषण्ड शब्द भी सब सम्प्रदायों के आगमादि ग्रन्थों में व्यवहृत होते हुए भी आज केवल जैन साधुओं के लिए ही नहीं अपितु प्रत्येक सम्प्रदाय के साधुओं के लिए अपमानजनक बन गया है।

भयंकर दुष्काल आदि कारणों से छिन्न-भिन्न दशा को प्राप्त हुए आज के आगमों में भी निर्ग्रंथ व निर्ग्रंथीसंघ की व्यवस्था और रचना के विषय में वैज्ञानिक ढंग की हकीकतों का जो बीज मिलता है और बाद के स्थविरों ने उस बीज को विकसित करने के लिए जो प्रयत्न किया है उससे यह जाना जा सकता है कि उन दिनों निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ की व्यवस्था और रचना कैसी व्यवस्थित रही थी और जैसे एक सार्वभौम राजसत्ता जिस रीति से शासन चलाती है वैसे ही उनका शासन चला था। यही कारण है कि आज के जैन आगम समस्त श्वेताम्बर जैन श्रीसंघ (जिसमें मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथी इन तीनों का समावेश होता है) को मान्य हैं।

दिगम्बर जैन श्रीसंघ "मौलिक जैन आगम सर्वथा नष्ट हो गये हैं" ऐसा मानकर प्रस्तुत आगमों को मान्यता नहीं देता। दिगम्बर श्रीसंघ ने इन आगमों को किसी भी परिस्थिति में या किसी भी कारण से अमान्य किया हो परन्तु इससे उन्होंने बहुत-कुछ खोया है, ऐसा स्वाभाविक रूप से अपने को लगता है और किसी भी विचारक को ऐसा प्रतीत हुए बिना नहीं रह सकता। जगत की किसी भी संस्कृति के पास में उसका अपना बृहत्तर मौलिक वाङ्मय रहा होगा, यह अनिवार्य है। इसके अभाव में उसके निर्माण का कोई अन्य आधारस्तंभ नहीं हो सकता। आज दिगम्बर श्रीसंघ के समक्ष यह प्रश्न मूक

रूप में कायम है कि संसार के किसी भी धर्म एवं सम्प्रदाय के पास में उसका आधारस्तंभ मौलिक साहित्य छिन्न-भिन्न, अपूर्ण या विकृत या जिस किसी भी दशा में विद्यमान रहा है, जब कि दिगम्बर संप्रदाय के पास में उनके मूल पुरुषों द्वारा अर्थात् तीर्थंकर भगवंत तथा गणधरों द्वारा निर्मित किया हुआ मौलिक जैन आगम किसी भी रूप में नहीं रहा !

इस प्रकार की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है तथा श्रद्धालुजनों में भी आकुलता पैदा करती है। समग्र जैनदर्शन के मान्य एवं जैन तत्त्वज्ञान के प्राणभूत महाबन्ध (महाधवल सिद्धान्त) वगैरह महान् ग्रन्थों का निर्माण जिस आधार पर हो सका उन मौलिक ग्रन्थों का ज्ञान व उनकी परंपराएँ उस काल के निर्ग्रंथों के पास ही रह गये यानी जैन आगमों का ज्ञान एक ही साथ सर्वथा नष्ट हो गया, उनमें से एकाध अंग, श्रुतस्कंध, अध्ययन या उद्देश जितना ज्ञान भी किसी के पास न बच सका—न रह सका, यह बात किसी भी तरह किसी के गले नहीं उतर सकती। अस्तु, दिगम्बर श्रीसंघ के अग्रणी स्थविर भगवंतों ने जिस किसी भी कारण से जैन आगमों को छोड़ दिया हो, यह सही है कि उन्होंने जैन आगमों की उपेक्षाकर अपनी मौलिक ज्ञानसंपत्ति को खो दिया।

आज के जैन आगम केवल साम्प्रदायिक दृष्टि से ही प्राचीन हैं, ऐसी बात नहीं है। ग्रन्थों की शैली, भाषाशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र, सांस्कृतिक सामग्री आदि के द्वारा प्राचीनता की कसौटी पर कसनेवाले भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों तथा शोधार्थियों ने भी जैन आगमों की मौलिकता को मान्य रखा है। यहाँ पर एक बात खासतौर से ध्यान में रखनी चाहिए। आज के जैन आगमों में मौलिक अंश प्रचुरमात्रा में है, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु जैसा-कैसा भी है वह सर्वथा मौलिक है, ऐसा मानना या मनवाने का प्रयत्न करना भी सर्वज्ञ भगवंतों को दूषित करना है। आज के जैन आगमों में ऐसे बहुतेरे अंश हैं जो जैन आगमों में पुस्तकारूढ़ करते समय आये हैं।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीसंघ के महामान्य स्थविर :

राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में जिस प्रकार हजारों व लाखों की संख्या में देश के महानुभाव बाहर निकल पड़े थे, इसी तरह का एक ऐसा भी युग रहा जब कि जनता के ही अन्दर का एक विशिष्ट वर्ग संसार के विविध भय व यातनाओं से ऊबकर श्रमण—वीर—वर्धमान भगवान् के त्यागमार्ग की ओर अग्रसर हुआ था। निर्ग्रंथसंघ में राजा, मन्त्री, धनी-मानी व सामान्य कुटुंब

के लोग अपने परिवार के साथ जब हजारों की संख्या में प्रविष्ट होने लगे तब उनकी व्यवस्था और नियन्त्रण के लिए उस युग के संघस्थविरों ने दूरदर्शिता-पूर्वक संघीय नियन्त्रण के लिए नियन्त्रण रखनेवाले महानुभावों व उनसे संबंधित नियमों का निर्माण किया।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीसंघ में उत्तरदायी महामान्य स्थविर पाँच थे :—१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर और ५. रत्नाधिक। ये पाँचों महानुभाव अधिकार में उत्तरोत्तर बढ़चढ़ कर थे फिर भी उनका गौरव लगभग एक-सा मानने में आता है। ये पाँचों संघपुरुष संघ की व्यवस्था के लिए जो कुछ करते थे वे परस्पर की सहानुभूतिपूर्वक करते थे। स्वयं आचार्य भगवंत सैकड़ों में विशेष मान्य व्यक्ति होते थे फिर भी महत्त्वपूर्ण बातों के प्रसंग में अपने साथ के उपाध्याय आदि स्थविरों की सहानुभूति प्राप्त किए बिना कुछ भी नहीं करते थे। कुल मिलाकर देखा जाय तो जैन संघव्यवस्था में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अल्पतम अथवा नहीं जैसा स्थान है। स्पष्ट शब्दों में 'नहीं है' ऐसा कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा। यही कारण है कि किसी भी प्रकार की जैन धार्मिक संपत्ति व्यक्ति के अधीन रखने में नहीं आती है।

१. आचार्य भगवंत का अधिकार मुख्य रूप से निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथी संघ की उच्च कक्षाओं के अध्ययन व शिक्षा के लिए होता है। २. उपाध्यायश्री का अधिकार साधुओं की प्रारंभिक और लगभग माध्यमिक कक्षाओं के अध्ययन व शिक्षा के लिए होता है। ये दोनों ही संघपुरुष निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ की शिक्षा के लिए जवाबदार व्यक्ति हैं। ३. प्रवर्तक का अधिकार साधु जीवन के लिए उपयोगी आचार-विचार-व्यवहार में व्यवस्थित ढंग से व अत्यन्त गम्भीर भाव से निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों की प्रवृत्ति करवाने और तद्विषयक महत्त्व की शिक्षा से संबंधित है। ४. स्थविर का अधिकार जैन निर्ग्रंथसंघ में प्रवेश करनेवाले शिष्यों को—निर्ग्रंथों को साधु-धर्मोपयोगी पवित्र आचारादि के बारे में प्रारंभिक शिक्षा देना व अध्ययन करवाना वगैरह विषयक है। तीसरी और चौथी कोटि के संघस्थविर निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ को आचार—क्रियाविषयक शिक्षा देने के बाद जीवन व्यवहार के लिए उपयोगी प्रत्येक बाह्य सामग्री के विषय में जैसे वस्त्र, पात्र, उपकरण, औषध इत्यादि की जवाबदेही रखने वाले व्यक्ति हैं। पहिले दो संघस्थविर निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ की ज्ञानविषयक जवाबदारीवाले और दूसरे दो संघस्थविर निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ की क्रिया—आचार विषयक

जवाबदेहीवाले व्यक्ति हैं । इस प्रकार निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ में मुख्य जवाबदार ये चार महापुरुष हैं । इन्हें जिस तरह की जवाबदारी सौंपी गई है उसका आप पृथक्करण करें तो आपको स्पष्ट मालूम हो जाएगा कि श्रमण वीर-वर्धमान भगवान् ने जिस ज्ञान-क्रिया रूप निर्वाणमार्ग का उपदेश दिया है उसकी सुव्यवस्थित रूप से आराधना, रक्षा व पालन हो सके—इस बात को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत संघस्थविरों की स्थापना की गई है । ५. रत्नाधिक महानुभाव निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ के अन्दर विशिष्ट आगमज्ञानसम्पन्न, विज्ञ, विवेकी, गंभीर निर्ग्रंथ हैं । जब निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ के समक्ष कोई कठिन या विशिष्ट कार्य आ पड़े तब उसका निर्वाह करने के लिए आचार्य आदि संघस्थविरों की आज्ञा होने पर ये महानुभाव इन्कार नहीं करते और हमेशा तत्पर व तैयार रहते हैं । वृषभ की भाँति बोझ संभालने वाले, बलवान्, धैर्यशाली, समर्थ, गंभीर व कठिन समय में अपने शारीरिक बल की कसौटी द्वारा निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ की हमेशा सचाई के साथ जवाबदारी रखने वाले वृषभों का समावेश इस रत्नाधिक-कोटि में होता है ।

ऊपर आचार्य के लिए जो अधिकार सूचित किया गया है उसे केवल शिक्षाध्यक्ष वाचनाचार्य के लिए ही समझना चाहिए । वाचनाचार्य के सिवाय दिगाचार्य वगैरह दूसरे आचार्य भी हैं जो निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों के लिए विहार-प्रदेश, अनुकूल-प्रतिकूल क्षेत्र आदि की खोज और विविध प्रकार की व्यवस्थाएँ लागू करने में निपुण व समर्थ होते हैं ।

गच्छ, कुल, गण, संघ और उनके स्थविर :

अमुक संख्या के भीतर निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों का समुदाय हो तब तो उसकी देखभाल पाँच संघस्थविरों से ही संभव है । परन्तु जब हजारों की संख्या में साधु हों तब तो उनकी देख-रेख या उनकी पूरी व्यवस्था का भार ये इनेगिने संघपुरुष अपने ऊपर नहीं ले सकते यानी उनकी व्यवस्था नहीं संभाल सकते । इसके लिए गच्छ, कुल, गण और संघ की व्यवस्था करना आवश्यक होता है और उनके साथ उपर्युक्त पाँच संघस्थविरों की पूरी सहानुभूति रहती है । वे क्रमशः गच्छाचार्य, कुलाचार्य, गणाचार्य व संघाचार्य आदि नामों से पुकारे जाते हैं ।

आचार्य आदि पाँच संघपुरुष पूरे श्रमणसंघ की देख-रेख नहीं कर सकते । ऐसी स्थिति में जितने निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों की सारी व्यवस्था को वे संभाल सकते

हैं उतने निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों के संघ को गच्छ कहा जाता है। इसी प्रकार अनेक गच्छों के समूह को कुल कहते हैं। अनेक कुलों के समूह को गण और अनेक गणों के समुदाय को संघ कहा जाता है। इस प्रकार कुल-गण-संघ की जवाबदेही रखनेवाले आचार्य, उपाध्याय आदि उन-उन उपनामों से अर्थात् कुलाचार्य, कुलोपाध्याय, कुलप्रवर्तक, कुलस्थविर, कुलरत्नाधिक आदि नामों से कहे जाते हैं। गच्छ कुलाचार्य के प्रति जवाबदार होता है, कुल गणाचार्य के प्रति जवाबदेह होता है, गण संघाचार्य के प्रति जवाबदेह होता है। संघाचार्य समग्र निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ पर अपना अधिकार रखता है और समस्त निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथीसंघ संघाचार्य के प्रति सम्पूर्ण रूप से जवाबदार होता है। जिस प्रकार गच्छ, कुल, गण, संघ एक-दूसरे के प्रति जबाबदेह होता है उसी तरह एक-दूसरे के प्रति एक-दूसरे की जवाबदेही भी अनिवार्य रूप से लेनी पड़ती है।

निर्ग्रन्थीसंघ की महत्तराएँ :

जिस प्रकार वीर—वर्धमान भगवान् ने निर्ग्रन्थसंघ में अग्रगण्य धर्मव्यवस्थापक स्थविरों की व्यवस्था की है उसी तरह इस महापुरुष के द्वारा निर्ग्रन्थीसंघ के लिए भी महत्तराओं जैसी स्थविराओं की व्यवस्था की गई है।

यहाँ पर प्रसंगोपात इस महत्तरा शब्द के विषय में ज़रा विचार कर लें। निर्ग्रन्थीसंघ की बड़ी साध्वी के लिए महत्तरा शब्द पसंद किया गया है, महत्तमा नहीं। श्रमण वीर—वर्धमान प्रभु के संघ में निर्ग्रन्थीसंघ को निर्ग्रन्थसंघ की अधीनता में रखा गया है। इस प्रकार निर्ग्रन्थीसंघ को महत्तम नहीं गिना है कि उसके लिए 'महत्तमा' पद की व्यवस्था करने में आवे। यही कारण है कि निर्ग्रन्थसंघ जैसी निर्ग्रन्थीसंघ में कोई स्वतन्त्र कुल-गण-संघ से मिलती-जुलती व्यवस्था भी करने में नहीं आई। यहाँ ऐसी कल्पना करना जरूरी नहीं है कि 'इस तरह तो निर्ग्रन्थीसंघ को पराधीन बना दिया गया है।' कारण कि स्पष्ट रूप से देखा जाय तो श्रमण वीर—वर्धमान भगवान् द्वारा निर्मित संघ में किसी के लिए भी स्वतन्त्रता का स्थान नहीं है।

निर्ग्रन्थीसंघी में प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और प्रतिहारी—ये चार महत्तराएँ प्रभावयुक्त व जवाबदार मानी गई हैं। निर्ग्रन्थसंघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर अथवा रत्नाधिकवृषभ का जो स्थान है वही स्थान निर्ग्रन्थीसंघ में प्रर्वातनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और प्रतिहारी को

प्राप्त है। प्रवर्तिनी महत्तरा के रूप में, गणावच्छेदिनी उपाध्याया के रूप में, अभिषेका स्थविरा के रूप में और प्रतिहारी प्रतिश्रयपाली, द्वारपाली अथवा पाली के रूप में भी देखने में आती है।

एक बात स्मरण रखने की यह है कि निर्ग्रन्थीसंघ की आभ्यन्तरिक निजी व्यवस्था के लिए लेशमात्र भी बाहरी परवशता अर्थात् हस्तक्षेप नहीं रहा है। ऐसा इसलिए कि प्रत्येक विषय को लेकर साधुओं और साध्वियों को एक-दूसरे के सहवास में या अतिसन्निकट में आना न पड़े। जैन संस्कृति के प्रणेताओं ने निर्ग्रन्थसंस्था और निर्ग्रन्थीसंस्था को प्रारम्भ से ही अलग रखा है और आज भी दोनों अलग ही हैं। खास कारण उपस्थित होने पर नियत समय पर ही उनके लिए परस्पर में मिलने की मर्यादा बाँध रखी है। ब्रह्मव्रती की मर्यादा के लिए ऐसी व्यवस्था अत्यन्त महत्त्व की है।

निर्ग्रन्थसंघ के महत्तरों की व्यवस्था जैसे ज्ञानक्रियात्मक मोक्षमार्ग की आराधना, रक्षा और पालन के लिए की गई है उसी तरह निर्ग्रन्थीसंघ की महत्तरिकाओं की व्यवस्था भी इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर की गई है। जैसे निर्ग्रन्थसंघ और संघमहत्तर एक-दूसरे के प्रति अपने-अपने कर्तव्य के लिए जवाबदार हैं वैसे ही निर्ग्रन्थीसंघ और उसकी महत्तराएँ भी अपने-अपने कर्तव्य पालन के लिए परस्पर में जवाबदार हैं।

●

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का दुःखद देहावसान

यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के परम हितैषी एवं मार्गदर्शक महान् विद्वान् पुरातत्त्वविद् डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का निधन दि० २६ जुलाई, १९६६ को रात्रि में काशी विश्वविद्यालय के सुन्दरलाल चिकित्सालय में हो गया। आप बहुत लम्बे समय से रुग्ण थे। आपके देहावसान से भारतीय विद्या की बहुत बड़ी क्षति हुई है। हमारा संस्थान अति शोकसन्तप्त है।

जैन जगत्

दिवंगत धर्मवीर लाला रूपलालजी

जैनेन्द्र गुरुकुल, पंचकूला के संस्थापक स्वामी धनिराम जी और बनूड़ निवासी भक्त नौरातारामजी (जो इस समय ९६ से ऊपर पहुँच चुके हैं तथा आचार्य प्रवर श्री आत्माराम जी महाराज की दीक्षा के अवसर पर उनके धर्मपिता बने थे) आदि गुरुकुल के निर्माणकर्ताओं में लाला रूपलालजी फरीदकोटी की अपनी कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जो अन्यत्र मिल नहीं सकतीं। वे अपने साथियों के साथ खूब मिल-जुलकर चल सकते थे। उनका जीवन अहंकारशून्य था। वे सहिष्णु व गमख़ोर थे। कभी बढ़कर बचन नहीं कहते थे। उनके चेहरे के दाईं तरफ शस्त्र के प्रहार का निशान था। उन्होंने प्रहार करनेवाले अपराधी को भी क्षमा कर दिया था। शिकायत करना उनके स्वभाव में नहीं था। इन सब बातों का एक ही अर्थ है कि वे सचमुच धर्मवीर थे। धर्म उनकी रग-रग में समाया हुआ था। अहिंसा उनके जीवन में मूर्तिमान थी। छोटे-बड़े गुण सिर्फ कहने के लिए नहीं, उनपर वे अमल भी करते थे। वे सच्चे रूप में सेवाभावी एवं मिशनरी थे।

सन् १९२६ की महावीर जयन्ती पर बनूड़ (पटियाला) में जैनेन्द्र गुरुकुल महामंडल की स्थापना हुई थी। तैयारी में करीब ढाई-तीन साल लग गए। २१ फरवरी १९२९ को पंचकूला में तीन दिनों का बड़ा उत्सव हुआ और दानवीर जैनसमाजभूषण सेठ ज्वालाप्रसादजी के करकमलों से गुरुकुल के

मुख्य विद्याभवन का शिलान्यास किया गया था। मुझे जहाँ तक स्मरण है—लाला रूपलालजी गुरुकुल खुलने के पहले से ही महामंडल की मीटिंगों व डेपुटेशनों में कुछ २ हिस्सा लेने लग गए थे। बच्चों के कल्याण के काम में उन्हें बहुत ही दिलचस्पी थी। वे समझते थे कि राष्ट्र और समाज की असली निधि व बुनियाद बच्चे ही हैं। गुरुकुल का अर्थ बालकल्याण है अतः गुरुकुल के काम में उनका दिलचस्पी लेना सहज था। वस्तुतः देखा जाए तो अहिंसा के परम श्रद्धालु होने के नाते उनका सारा जीवन ही रचनात्मक था। सच्चे अहिंसक की यह बड़ी पहचान है। अहिंसा का अर्थ है, किसी को भी हानि न पहुँचाते हुए अपने जीवन में नव-निर्माण करते जाना। इसमें विनाश का काम नहीं, वह तो हिंसात्मक होता है।

स्त्री-शिक्षा के भी वे बड़े प्रेमी थे। यह काम उन्होंने अपने जन्मस्थान फरीद कोट में जैन कन्याशाला खोलकर शुरू किया था। लालाजी की पौत्री सुश्री राजकुमारी पंजाब भर में पहली कन्या है, जिसने एम० ए० करने के बाद एम० लिब्० एस-सी० अर्थात् लायब्रेरी साइन्स में एम० ए० किया है। निःसंदेह यह उनके स्त्री-शिक्षा प्रेम का ज्वलंत उदाहरण है। उसे उच्च शिक्षा के लिए अमरीका दिसम्बर, ६५ में भेजा है। फरीदकोट में उन्होंने धर्मार्थ बिल्डिगों का खूब निर्माण किया। इसके बाद गुरुकुल पंचकूला में अपनी रुचि के अनुकूल उन्हें नव-निर्माण का खुलकर अवसर मिल गया। पहली बुनियादी ईंट से लेकर सन् १९६४ के जून तक पंचकूला में जितनी भी बिल्डिगें बनी हैं, यहाँ तक कि सेठ ज्वालाप्रसादजी की तीन मंजिल कोठी भी इसमें शामिल है यह सब कुछ लालाजी का ही निर्माण कार्य है। इस काम में उनकी रुचि, लगन एवं परिश्रम को देखकर चकित रह जाना पड़ता था। गुरुकुल के संस्थापक स्वामी धनिरामजी और भक्त नौरातारामजी जिस तरह अपनी धुन और निश्चय के पक्के थे, यही हालत लाला रूपलालजी की भी थी।

मैं कहा करता था कि गुरुकुल पंचकूला में लालाजी का पक्ष यानी बिल्डिगों के निर्माण का कार्य जितना प्रबल रहा है, उतना यहाँ शिक्षण का काम नहीं हो सका है, हालांकि तीन-चार हजार विद्यार्थी यहाँ से पढ़कर जा चुके हैं। राजधानी चंडीगढ़ के बन जाने से अब तो यहाँ के हालात ही बदल गए हैं। पहले यहाँ जंगल था। लोग कहते थे—पंचकूला में जैन समाज का लाखों रुपया बिल्डिगों पर बरबाद कर दिया गया है। जब कोई लालाजी को कहता

या रोकता, तो वे कहा करते थे—इसका पता बाद में लगेगा। यह आवाज शुद्ध व पवित्र आत्मा की थी। पंचकूला में आज मकानों की कीमत व किराया चंडीगढ़ से कम नहीं है। गुरुकुल की भव्य व विशाल बिल्डिगें लालाजी का स्मारक बनकर खड़ी हैं।

लालाजी का अभाव अभी से खटकने लग गया है। बिल्डिगों के नव-निर्माण का काम रुक-सा गया है। अब यह जिम्मेवारी जैन समाज व गुरुकुल के पुत्रों पर आ पड़ी है। देखें, समाज का कौन बहादुर इधर कदम बढ़ाता है और लालाजी का स्थान लेता है।

श्री देवराजजी और श्री हंसराजजी लालाजी के सुयोग्य पुत्र हैं। उनके पौत्र अमेरिका में अध्ययनरत चिरंजीव सुशीलकुमार बड़े बुद्धिमान व होनहार हैं। हमें इन सबसे बड़ी आशाएँ हैं कि वे लालाजी के वर्षों तक सींचे हुए गुरुकुल-रूपी वृक्ष को हरा-भरा बनाए रखने में प्रयत्नशील बनेंगे।

लालाजी का जन्म सन् १८८१ (विक्रम संवत् १९३७ चैत्र) में हुआ था। स्वर्गवास २६ मई १९६६ की शाम को ५-१० पर गुरुकुल में हुआ और यहीं पर अग्निसंस्कार भी।

कृष्णचन्द्र आचार्य

●

मोल्डिंग पाउडर .... प्रेसराइट

बटन .... फूलछाप

टूल्स .... बरार टूल्स

कुछ भी माँगिए

श्रेणी में प्रमुख है

बनाने वाले :—

रतनचन्द हरजसराय (प्लास्टिक्स)

प्रा० लि०

फरीदाबाद

OUR LATEST PUBLICATION

STUDIES IN HEMACANDRA'S DEŚĪNĀMAMĀLĀ

By

Dr. HARIVALLABH C. BHAYANI
Professor of Linguistics
Gujarat University, Ahmedabad

Price : **Rs. 3-0-0**

P. V. RESEARCH INSTITUTE
JAINASHRAM
HINDU UNIVERSITY, VARANASI—5.

Edited and Published by Dr. Mohan Lal Mehta,
Director, P. V. Research Institute, Varanasi-5
Printed by Shri Lakshmi Das, B.H.U. Press, Varanasi-5